॥ श्रीःअष्टावक्रगीता ॥
आशुतोष बंसल

॥ श्रीः अष्टावक्रगीता ॥

एक समय मिथिलाधिपति राजा जनक के मन में पूर्व पुण्य के प्रभाव से इस प्रकार जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि, इस असार संसाररूपी बंधन से किस प्रकार मुक्ति होगी और तदनंतर उन्होंने ऐसा भी विचार किया कि, किसी ब्रह्मज्ञानी गुरु के समीप जाना चाहिये, इसी अंतर में उन को ब्रह्मज्ञान के मानो समुद्र परम दयालु श्रीअष्टावक्रजी मिले । इन मुनि की आकृति को देखकर राजा जनक के मन में यह अभिमान हुआ कि, यह ब्राह्मण अंत्यत ही कुरूप है।

दूसरे के चित्त का वृत्तांत जाननेवाले अष्टावक्रजी राजा जनक के मन का भी विचार दिव्यदृष्टि के द्वारा जानकर राजा से बोले कि, हे राजन् ! देहदृष्टि को छोडकर यदि आत्मदृष्टि करोगे तो यह देह टेढा है परंतु इस में स्थित आत्मा टेढा नहीं है, जिस प्रकार नदी टेढी होती, इक्षु (गन्ना) टेढा होता है परंतु उस का जल रस टेढा नहीं होता है, तिसी प्रकार यद्यपि पांचभौतिक यह देह टेढा है, परंतु अंतर्यामी आत्मा नहीं । किंतु आत्मा असंग, निर्विकार, व्यापक, ज्ञानघन, सचिदानंद स्वरूप, अखंड, अच्छेद्य, अभेद्य, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वभाव है, इस कारण हे राजन् ! तुम देहदृष्टि को त्यागकर आत्मदृष्टि करो।

परम दयालु अष्टावक्रजी के वचन सुनने से राजा जनक का मोह तत्काल दूर हो गया और राजा जनकने मन में विचार किया कि मेरे सब मनोरथ सिद्ध हो गये, में अब इनको ही गुरु करूंगा। क्योंकि यह महात्मा ब्रह्मविद्या के समुद्ररूप है, जीवन्मुक्त हैं, अब इन से अधिक ज्ञानी मुझे कौन मिलेगा? अब तो इन से गुरुदीक्षा लेकर इनको ही शरण लेना योग्य है, इस प्रकार विचारकर राजा जनक अष्टावक्रजी से इस प्रकार बोले कि, हे महात्मन् ! मैं संसारबंधन से छूटने के निमित्त आप की शरण लेने की इच्छा करता हूं, अष्टावक्रजीने भी राजा जनक को अधिकारी समझकर अपना शिष्य कर लिया,

तब राजा जनक अपने चित्त के संदेहों को दूर करने के निमित्त और ब्रह्मविद्या के श्रवण करने की इच्छा कर के अष्टावक्रजी से पूंछने लगे:-

अष्टावक्र गीता -पहला अध्याय

॥१॥	**जनक उवाच –** **कथं ज्ञानमवाप्नोति, कथं मुक्तिर्भविष्यति।** **वैराग्य च कथं प्राप्तमेतद ब्रूहि मम प्रभो॥१**	वयोवृद्ध राजा जनक, बालक अष्टावक्र से पूछते हैं - हे प्रभु, ज्ञान की प्राप्ति कैसे होती है, मुक्ति कैसे प्राप्त होती है, वैराग्य कैसे प्राप्त किया जाता है, ये सब मुझे बताएं॥
॥२॥	**अष्टावक्र उवाच –** **मुक्तिमिच्छसि चेत्तात्, विषयान विषवत्त्यज।** **क्षमार्जवदयातोष, सत्यं पीयूषवद्भज॥**	श्री अष्टावक्र उत्तर देते हैं - यदि आप मुक्ति चाहते हैं तो अपने मन से विषयों (वस्तुओं के उपभोग की इच्छा) को विष की तरह त्याग दीजिये। क्षमा, सरलता, दया, संतोष तथा सत्य का अमृत की तरह सेवन कीजिये॥
॥३॥	**न पृथ्वी न जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौर्न वा भवान्।** **एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये॥**	आप न पृथ्वी हैं, न जल, न अग्नि, न वायु अथवा आकाश ही हैं। मुक्ति के लिए इन तत्त्वों के साक्षी, चैतन्यरूप आत्मा को जानिए॥
॥४॥	**यदि देहं पृथक् कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि।** **अधुनैव सुखी शान्तो बन्धमुक्तो भविष्यसि॥**	यदि आप स्वयं को इस शरीर से अलग करके, चेतना में विश्राम करें तो तत्काल ही सुख, शांति और बंधन मुक्त अवस्था को प्राप्त होंगे॥

॥५॥	न त्वं विप्रादिको वर्णः नाश्रमी नाक्षगोचरः। असङ्गोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव॥	आप ब्राह्मण आदि सभी जातियों अथवा ब्रह्मचर्य आदि सभी आश्रमों से परे हैं तथा आँखों से दिखाई न पड़ने वाले हैं। आप निर्लिप्त, निराकार और इस विश्व के साक्षी हैं, ऐसा जान कर सुखी हो जाएँ॥
॥६॥	धर्माधर्मौ सुखं दुखं मानसानि न ते विभो। न कर्तासि न भोक्तासि मुक्त एवासि सर्वदा॥	धर्म, अधर्म, सुख, दुःख मस्तिष्क से जुड़ें हैं, सर्वव्यापक आप से नहीं। न आप करने वाले हैं और न भोगने वाले हैं, आप सदा मुक्त ही हैं॥
॥७॥	एको द्रष्टासि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा। अयमेव हि ते बन्धो द्रष्टारं पश्यसीतरम्॥	आप समस्त विश्व के एकमात्र दृष्टा हैं, सदा मुक्त ही हैं, आप का बंधन केवल इतना है कि आप दृष्टा किसी और को समझते हैं॥
॥८॥	अहं कर्तेत्यहंमान महाकृष्णाहिदंशितः। नाहं कर्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखं भव॥	अहंकार रूपी महासर्प के प्रभाववश आप 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान लेते हैं। 'मैं कर्ता नहीं हूँ', इस विश्वास रूपी अमृत को पीकर सुखी हो जाइये॥
॥९॥	एको विशुद्धबोधोऽहं इति निश्चयवह्निना। प्रज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखी भव॥	मैं एक, विशुद्ध ज्ञान हूँ, इस निश्चय रूपी अग्नि से गहन अज्ञान वन को जला दें, इस प्रकार शोकरहित होकर सुखी हो जाएँ॥

॥१०॥	**यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत्। आनंदपरमानन्दः स बोधस्त्वं सुखं चर॥**	जहाँ ये विश्व रस्सी में सर्प की तरह अवास्तविक लगे, उस आनंद, परम आनंद की अनुभूति करके सुख से रहें ॥
॥११॥	**मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि। किवदन्तीह सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत्॥**	स्वयं को मुक्त मानने वाला मुक्त ही है और बद्ध मानने वाला बंधा हुआ ही है, यह कहावत सत्य ही है कि जैसी बुद्धि होती है वैसी ही गति होती है॥
॥१२॥	**आत्मा साक्षी विभुः पूर्ण एको मुक्तश्चिद - क्रियः। असंगो निःस्पृहः शान्तो भ्रमात्संसा- रवानिव॥**	आत्मा साक्षी, सर्वव्यापी, पूर्ण, एक, मुक्त, चेतन, अक्रिय, असंग, इच्छा रहित एवं शांत है। भ्रमवश ही ये सांसारिक प्रतीत होती है॥
॥१३॥	**कूटस्थं बोधमद्वैत- मात्मानं परिभावय। आभा- सोऽहं भ्रमं मुक्त्वा भावं बाह्यमथान्तरम्॥**	अपरिवर्तनीय, चेतन व अद्वैत आत्मा का चिंतन करें और 'मैं' के भ्रम रूपी आभास से मुक्त होकर, बाह्य विश्व की अपने अन्दर ही भावना करें॥
॥१४॥	**देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक। बोधोऽहं ज्ञानखंगेन तन्निष्कृत्य सुखी भव॥**	हे पुत्र! बहुत समय से आप 'मैं शरीर हूँ' इस भाव बंधन से बंधे हैं, स्वयं को अनुभव कर, ज्ञान रूपी तलवार से इस बंधन को काटकर सुखी हो जाएँ॥

॥१५॥	**निःसंगो निष्क्रियोऽसि त्वं स्वप्रकाशो निरंजन-नः। अयमेव हि ते बन्धः समाधिमनुतिष्ठति॥**	आप असंग, अक्रिय, स्वयं-प्रकाशवान तथा सर्वथा-दोषमुक्त हैं। आपका ध्यान द्वारा मस्तिस्क को शांत रखने का प्रयत्न ही बंधन है॥
॥१६॥	**त्वया व्याप्तमिदं विश्वं त्वयि प्रोतं यथार्थतः। शुद्धबुद्धस्वरुपस्त्वं मा गमः क्षुद्रचित्तताम्॥**	यह विश्व तुम्हारे द्वारा व्याप्त किया हुआ है, वास्तव में तुमने इसे व्याप्त किया हुआ है। तुम शुद्ध और ज्ञानस्वरुप हो, छोटेपन की भावना से ग्रस्त मत हो॥
॥१७॥	**निरपेक्षो निर्विकारो निर्भरः शीतलाशयः। अगाधबुद्धिरक्षुब्धो भव चिन्मात्रवासनः॥**	आप इच्छारहित, विकाररहित, ठोस, शीतलता के धाम, अगाध बुद्धिमान हैं, शांत होकर केवल चैतन्य की इच्छा वाले हो जाइये॥
॥१८॥	**साकारमनृतं विद्धि निराकारं तु निश्चलं। एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भवसंभवः॥**	आकार को असत्य जानकर निराकार को ही चिर स्थायी मानिये, इस तत्त्व को समझ लेने के बाद पुनः जन्म लेना संभव नहीं है॥
॥१९॥	**यथैवादर्शमध्यस्थे रूपेऽन्तः परितस्तु सः। तथैवाऽस्मिन् शरीरेऽन्तः परितः परमेश्वरः॥**	जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिंबित रूप उसके अन्दर भी है और बाहर भी, उसी प्रकार परमात्मा इस शरीर के भीतर भी निवास करता है और उसके बाहर भी॥

॥२०॥	एकं सर्वगतं व्योम बहिरन्तर्यथा घटे। नित्यं निरन्तरं ब्रह्म सर्वभूतगणे तथा॥	जिस प्रकार एक ही आकाश पात्र के भीतर और बाहर व्याप्त है, उसी प्रकार शाश्वत और सतत परमात्मा समस्त प्राणियों में विद्यमान है॥
अष्टावक्र गीता - दूसरा अध्याय		
॥१॥	जनक उवाच – अहो निरंजनः शान्तो बोधोऽहं प्रकृतेः परः। एतावंतमहं कालं मोहेनैव विडम्बितः॥	राजा जनक कहते हैं - आश्चर्य! मैं निष्कलंक, शांत, प्रकृति से परे, ज्ञान स्वरुप हूँ, इतने समय तक मैं मोह से संतप्त किया गया॥
॥२॥	यथा प्रकाशयाम्येको देहमेनो तथा जगत्। अतो मम जगत्सर्वम- थवा न च किंचन॥	जिस प्रकार मैं इस शरीर को प्रकाशित करता हूँ, उसी प्रकार इस विश्व को भी। अतः मैं यह समस्त विश्व ही हूँ अथवा कुछ भी नहीं॥
॥३॥	सशरीरमहो विश्वं परित्यज्य मयाऽधुना। कुतश्चित् कौशलादेव परमात्मा विलोक्यते॥	अब शरीर सहित इस विश्व को त्याग कर किसी कौशल द्वारा ही मेरे द्वारा परमात्मा का दर्शन किया जाता है॥
॥४॥	यथा न तोयतो भिन्नास्- तरंगाः फेन बुदबुदाः आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम् ॥	जिस प्रकार पानी लहर, फेन और बुलबुलों से पृथक नहीं उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं से निकले इस विश्व से अलग नहीं है॥

॥५॥	**तंतुमात्रो भवेदेव पटो यद्वद्विचारितः। आत्मतन्मात्रमेवेदं तद्वद्विश्वं विचारितम्॥**	जिस प्रकार विचार करने पर वस्त्र तंतु (धागा) मात्र ही ज्ञात होता है, उसी प्रकार यह समस्त विश्व आत्मा मात्र ही है॥
॥६॥	**यथैवेक्षुरसे क्लृप्ता तेन व्याप्तैव शर्करा। तथा विश्वं मयि क्लृप्तं मया व्याप्तं निरन्तरम्॥**	जिस प्रकार गन्ने के रस से बनी शक्कर उससे ही व्याप्त होती है, उसी प्रकार यह विश्व मुझसे ही बना है और निरंतर मुझसे ही व्याप्त है॥
॥७॥	**आत्माऽज्ञानाज्जगद्भाति आत्मज्ञानान्न भासते। रज्ज्वज्ञानादहिर्भाति तज्ज्ञानाद्भासते न हि॥**	आत्मा अज्ञानवश ही विश्व के रूप में दिखाई देती है, आत्म-ज्ञान होने पर यह विश्व दिखाई नहीं देता है। रस्सी अज्ञानवश सर्प जैसी दिखाई देती है, रस्सी का ज्ञान हो जाने पर सर्प दिखाई नहीं देता है॥
॥८॥	**प्रकाशो मे निजं रूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः। यदा प्रकाशते विश्वं तदाऽहंभास एव हि॥**	प्रकाश मेरा स्वरुप है, इसके अतिरिक्त में कुछ और नहीं हूँ। वह प्रकाश जैसे इस विश्व को प्रकाशित करता है वैसे ही इस "मैं" भाव को भी॥
॥९॥	**अहो विकल्पितं विश्वंज्ञानान्मयि भासते। रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरे यथा॥**	आश्चर्य, यह कल्पित विश्व अज्ञान से मुझमें दिखाई देता है जैसे सीप में चाँदी, रस्सी में सर्प और सूर्य किरणों में पानी॥

॥१०॥	**मत्तो विनिर्गतं विश्वं मय्येव लयमेष्यति। मृदि कुम्भो जले वीचिः कनके कटकं यथा॥**	मुझसे उत्पन्न हुआ विश्व मुझमें ही विलीन हो जाता है जैसे घड़ा मिटटी में, लहर जल में और कड़ा सोने में विलीन हो जाता है॥
॥११॥	**अहो अहं नमो मह्यं विनाशो यस्य नास्ति मे। ब्रह्मादिस्तंबपर्यन्तं जगन्नाशोऽपि तिष्ठतः॥**	आश्चर्य है, मुझको नमस्कार है, समस्त विश्व के नष्ट हो जाने पर भी जिसका विनाश नहीं होता, जो तृण से ब्रह्मा तक सबका विनाश होने पर भी विद्यमान रहता है॥
॥१२॥	**अहो अहं नमो मह्यं एकोऽहं देहवानपि। क्वचिन्न गन्ता नागन्ता व्याप्य विश्वमवस्थितः॥**	आश्चर्य है, मुझको नमस्कार है, मैं एक हूँ, शरीर वाला होते हुए भी जो न कहीं जाता है और न कहीं आता है और समस्त विश्व को व्याप्त करके स्थित है॥
॥१३॥	**अहो अहं नमो मह्यं दक्षो नास्तीह मत्समः। असंस्पृश्य शरीरेण येन विश्वं चिरं धृतम्॥**	आश्चर्य है, मुझको नमस्कार है, जो कुशल है और जिसके समान कोई और नहीं है, जिसने इस शरीर को बिना स्पर्श करते हुए इस विश्व को अनादि काल से धारण किया हुआ है॥
॥१४॥	**अहो अहं नमो मह्यं यस्य मे नास्ति किंचन। अथवा यस्य मे सर्वं यद् वाङ्मनसगोचरम्॥**	आश्चर्य है, मुझको नमस्कार है, जिसका यह कुछ भी नहीं है अथवा जो भी वाणी और मन से समझ में आता है वह सब जिसका है॥

॥१५॥	**ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवं। अज्ञानाद् भाति यत्रेदं सोऽहमस्मि निरंजनः॥**	ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता यह तीनों वास्तव में नहीं हैं, यह जो अज्ञानवश दिखाई देता है वह निष्कलंक मैं ही हूँ॥
॥१६॥	**द्वैतमूलमहो दुःखं नान्य- त्तस्याऽस्ति भेषजं। दृश्यमेतन् मृषा सर्वं एकोऽहं चिद्रसोमलः॥**	द्वैत (भेद) सभी दुखों का मूल कारण है। इसकी इसके अतिरिक्त कोई और औषधि नहीं है कि यह सब जो दिखाई दे रहा है वह सब असत्य है। मैं एक, चैतन्य और निर्मल हूँ॥
॥१७॥	**बोधमात्रोऽहमज्ञानाद् उपाधिः कल्पितो मया। एवं विमृशतो नित्यं निर्विकल्पे स्थितिर्मम॥**	मैं केवल ज्ञान स्वरुप हूँ, अज्ञान से ही मेरे द्वारा स्वयं में अन्य गुण कल्पित किये गए हैं, ऐसा विचार करके मैं सनातन और कारणरहित रूप से स्थित हूँ॥
॥१८॥	**न मे बन्धोऽस्ति मोक्षो वा भ्रान्तिः शान्तो निराश्रया। अहो मयि स्थितं विश्वं वस्तुतो न मयि स्थितम्॥**	न मुझे कोई बंधन है और न कोई मुक्ति का भ्रम। मैं शांत और आश्रयरहित हूँ। मुझमें स्थित यह विश्व भी वस्तुतः मुझमें स्थित नहीं है॥
॥१९॥	**सशरीरमिदं विश्वं न किंचिदिति निश्चितं। शुद्धचिन्मात्र आत्मा च तत्कस्मिन् कल्पनाधुना॥**	यह निश्चित है कि इस शरीर सहित यह विश्व अस्तित्वहीन है, केवल शुद्ध, चैतन्य आत्मा का ही अस्तित्व है। अब इसमें क्या कल्पना की जाये॥

॥२०॥	**शरीरं स्वर्गनरकौ बन्धमोक्षौ भयं तथा। कल्पनामात्रमेवैतत् किं मे कार्यं चिदात्मनः॥**	शरीर, स्वर्ग, नरक, बंधन, मोक्ष और भय ये सब कल्पना मात्र ही हैं, इनसे मुझ चैतन्य स्वरुप का क्या प्रयोजन है॥
॥२१॥	**अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम। अरण्यमिव संवृत्तं क्व रतिं करवाण्यहम्॥**	आश्चर्य कि मैं लोगों के समूह में भी दूसरे को नहीं देखता हूँ, वह भी निर्जन ही प्रतीत होता है। अब मैं किससे मोह करूँ॥
॥२२॥	**नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्। अयमेव हि मे बन्ध आसीद्या जीविते स्पृहा॥**	न मैं शरीर हूँ न यह शरीर ही मेरा है, न मैं जीव हूँ , मैं चैतन्य हूँ। मेरे अन्दर जीने की इच्छा ही मेरा बंधन थी॥
॥२३॥	**अहो भुवनकल्लोलै- र्विचित्रैर्द्राक् समुत्थितं। मय्यनंतमहांभोधौ चित्तवाते समुद्यते॥**	आश्चर्य, मुझ अनंत महासागर में चित्तवायु उठने पर ब्रह्माण्ड रूपी विचित्र तरंगें उपस्थित हो जाती हैं॥
॥२४॥	**मय्यनंतमहांभोधौ चित्तवाते प्रशाम्यति। अभाग्याज्जीववणिजो जगत्पोतो विनश्वरः॥**	मुझ अनंत महासागर में चित्तवायु के शांत होने पर जीव रूपी वणिक का संसार रूपी जहाज जैसे दुर्भाग्य से नष्ट हो जाता है॥
॥२५॥	**मय्यनन्तमहांभोधा- वाश्चर्यं जीववीचयः। उद्यन्ति घ्नन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः॥**	आश्चर्य, मुझ अनंत महासागर में जीव रूपी लहरें उत्पन्न होती हैं, मिलती हैं, खेलती हैं और स्वभाव से मुझमें प्रवेश कर जाती हैं॥

अष्टावक्र गीता -तीसरा अध्याय		
॥१॥	**अष्टावक्र उवाच –** **अविनाशिनमात्मानं एकं विज्ञाय तत्त्वतः।** **तवात्मज्ञानस्य धीरस्य कथमर्थार्जने रतिः॥**	अष्टावक्र कहते हैं - आत्मा को अविनाशी और एक जानो । उस आत्म-ज्ञान को प्राप्त कर, किसी बुद्धिमान व्यक्ति की रूचि धन अर्जित करने में कैसे हो सकती है॥
॥२॥	**आत्माज्ञानादहो प्रीतिर्विषयभ्रमगोचरे।** **शुक्तेरज्ञानतो लोभो यथा रजतविभ्रमे॥**	स्वयं के अज्ञान से भ्रमवश विषयों से लगाव हो जाता है जैसे सीप में चाँदी का भ्रम होने पर उसमें लोभ उत्पन्न हो जाता है॥
॥३॥	**विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरङ्गा इव सागरे।** **सोऽहमस्मीति विज्ञाय किं दीन इव धावसि॥**	सागर से लहरों के समान जिससे यह विश्व उत्पन्न होता है, वह मैं ही हूँ जानकर तुम एक दीन जैसे कैसे भाग सकते हो॥
॥४॥	**श्रुत्वापि शुद्धचैतन्य आत्मानमतिसुन्दरं।** **उपस्थेऽत्यन्तसंसक्तो मालिन्यमधिगच्छति॥**	यह सुनकर भी कि आत्मा शुद्ध, चैतन्य और अत्यंत सुन्दर है तुम कैसे जननेंद्रिय में आसक्त होकर मलिनता को प्राप्त हो सकते हो॥
॥५॥	**सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।** **मुनेर्जानत आश्चर्यं ममत्वमनुवर्तते॥**	सभी प्राणियों में स्वयं को और स्वयं में सब प्राणियों को जानने वाले मुनि में ममता की भावना का बने रहना आश्चर्य ही है॥

॥६॥	**आस्थितः परमाद्वैतं मोक्षार्थेऽपि व्यवस्थितः।** **आश्चर्यं कामवशगो विकलः केलिशिक्षया॥**	एक ब्रह्म का आश्रय लेने वाले और मोक्ष के अर्थ का ज्ञान रखने वाले का आमोद-प्रमोद द्वारा उत्पन्न कामनाओं से विचलित होना आश्चर्य ही है॥
॥७॥	**उद्भूतं ज्ञानदुर्मित्रम- वधार्यातिदुर्बलः।** **आश्चर्यं काममाकाङ्क्षेत् कालमन्तमनुश्रितः॥**	अंत समय के निकट पहुँच चुके व्यक्ति का उत्पन्न ज्ञान के अमित्र काम की इच्छा रखना, जिसको धारण करने में वह अत्यंत अशक्त है, आश्चर्य ही है॥
॥८॥	**इहामुत्र विरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः।** **आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षाद् एव विभीषिका॥**	इस लोक और परलोक से विरक्त, नित्य और अनित्य का ज्ञान रखने वाले और मोक्ष की कामना रखने वालों का मोक्ष से डरना, आश्चर्य ही है॥
॥९॥	**धीरस्तु भोज्यमानोऽपि पीड्यमानोऽपि सर्वदा।** **आत्मानं केवलं पश्यन् न तुष्यति न कुप्यति॥**	सदा केवल आत्मा का दर्शन करने वाले बुद्धिमान व्यक्ति भोजन कराने पर या पीड़ित करने पर न प्रसन्न होते हैं और न क्रोध ही करते हैं॥
॥१०॥	**चेष्टमानं शरीरं स्वं पश्यत्यन्यशरीरवत्।** **संस्तवे चापि निन्दायां कथं क्षुभ्येत् महाशयः॥**	अपने कार्यशील शरीर को दूसरों के शरीरों की तरह देखने वाले महापुरुषों को प्रशंसा या निंदा कैसे विचलित कर सकती है॥

॥११॥	**मायामात्रमिदं विश्वं पश्यन् विगतकौतुकः।** **अपि सन्निहिते मृत्यौ कथं त्रस्यति धीरधीः॥**	समस्त जिज्ञासाओं से रहित, इस विश्व को माया में कल्पित देखने वाले, स्थिर प्रज्ञा वाले व्यक्ति को आसन्न मृत्यु भी कैसे भयभीत कर सकती है॥
॥१२॥	**निःस्पृहं मानसं यस्य नैराश्येऽपि महात्मनः।** **तस्यात्मज्ञानतृप्तस्य तुलना केन जायते॥**	निराशा में भी समस्त इच्छाओं से रहित, स्वयं के ज्ञान से प्रसन्न महात्मा की तुलना किससे की जा सकती है॥
॥१३॥	**स्वभावाद् एव जानानो दृश्यमेतन्न किंचन।** **इदं ग्राह्यमिदं त्याज्यं स किं पश्यति धीरधीः॥**	स्वभाव से ही विश्व को दृश्यमान जानो, इसका कुछ भी अस्तित्व नहीं है। यह ग्रहण करने योग्य और त्यागने योग्य, देखने वाला स्थिर प्रज्ञायुक्त व्यक्ति क्या देखता है?
॥१४॥	**अंतस्त्यक्तकषायस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः।** **यदृच्छयागतो भोगो न दुःखाय न तुष्टये॥**	विषयों की आतंरिक आसक्ति का त्याग करने वाले, संदेह से परे, बिना किसी इच्छा वाले व्यक्ति को स्वतः आने वाले भोग न दुखी कर सकते है और न सुखी॥
	अष्टावक्र गीता- चौथा अध्याय	
॥१॥	**अष्टावक्र उवाच –** **हन्तात्मज्ञस्य धीरस्य खेलतो भोगलीलया।** **न हि संसारवाहीकै- मूँढैः सह समानता॥**	अष्टावक्र कहते हैं - स्वयं को जानने वाला बुद्धिमान व्यक्ति इस संसार को खेल की तरह लेता है, उसकी सांसारिक परिस्थितियों का बोझ (दबाव) लेने वाले मोहित व्यक्ति के साथ बिलकुल भी समानता नहीं है॥

॥२॥	**यत् पदं प्रेप्सवो दीनाः शक्राद्याः सर्वदेवताः। अहो तत्र स्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति॥**	जिस पद की इन्द्र आदि सभी देवता इच्छा रखते हैं, उस पद में स्थित होकर भी योगी हर्ष नहीं करता है॥
॥३॥	**तज्ज्ञस्य पुण्यपापाभ्यां स्पर्शो ह्यन्तर्न जायते। न ह्याकाशस्य धूमेन दृश्यमानापि सङ्गतिः॥**	उस (ब्रह्म) को जानने वाले के अन्तःकरण से पुण्य और पाप का स्पर्श नहीं होता है जिस प्रकार आकाश में दिखने वाले धुएँ से आकाश का संयोग नहीं होता है॥
॥४॥	**आत्मैवेदं जगत्सर्वं ज्ञातं येन महात्मना। यदृच्छया वर्तमानं तं निषेद्धुं क्षमेत कः॥**	जिस महापुरुष ने स्वयं को ही इस समस्त जगत के रूप में जान लिया है, उसके स्वेच्छा से वर्तमान में रहने को रोकने की सामर्थ्य किसमें है॥
॥५॥	**आब्रह्मस्तंबपर्यन्ते भूतग्रामे चतुर्विधे। विज्ञस्यैव हि सामर्थ्य- मिच्छानिच्छाविवर्जने॥**	ब्रह्मा से तृण तक, चारों प्रकार के प्राणियों में केवल आत्मज्ञानी ही इच्छा और अनिच्छा का परित्याग करने में समर्थ है॥
॥६॥	**आत्मानमद्वयं कश्चिज्- जानाति जगदीश्वरं। यद् वेत्ति तत्स कुरुते न भयं तस्य कुत्रचित्॥**	आत्मा को एक और जगत का ईश्वर कोई कोई ही जानता है, जो ऐसा जान जाता है उसको किसी से भी किसी प्रकार का भय नहीं है॥

अष्टावक्र गीता - पांचवा अध्याय		
॥१॥	**अष्टावक्र उवाच –** **न ते संगोऽस्ति केनापि किं शुद्धस्त्यक्तु मिच्छसि।संघातविलयं कुर्वन्- नेवमेव लयं व्रज॥**	अष्टावक्र कहते हैं - तुम्हारा किसी से भी संयोग नहीं है, तुम शुद्ध हो, तुम क्या त्यागना चाहते हो, इस सम्मिलन को समाप्त कर ब्रह्म से योग एकरूपता को प्राप्त करो॥
॥२॥	**उदेति भवतो विश्वं वारिधेरिव बुद्बुदः। इति ज्ञात्वैकमात्मानं एवमेव लयं व्रज॥**	जिस प्रकार समुद्र से बुलबुले उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार विश्व एक आत्मा से ही उत्पन्न होता है। यह जानकर ब्रह्म से योग (एकरूपता) को प्राप्त करो॥
॥३॥	**प्रत्यक्षमप्यवस्तुत्वाद् विश्वं नास्त्यमले त्वयि। रज्जुसर्प इव व्यक्तं एवमेव लयं व्रज॥**	यद्यपि यह विश्व आँखों से दिखाई देता है,अवास्तविक है। विशुद्ध तुम में इस विश्व का अस्तित्व उसी प्रकार नहीं है जिस प्रकार कल्पित सर्प का रस्सी में। यह जानकर ब्रह्म से योग (एकरूपता) को प्राप्त करो ॥
॥४॥	**समदुःखसुखः पूर्ण आशानैराश्ययोः समः। समजीवितमृत्युः सन्- नेवमेव लयं व्रज॥**	स्वयं को सुख और दुःख में समान, पूर्ण, आशा और निराशा में समान, जीवन और मृत्यु में समान, सत्य जानकर ब्रह्म से योग (एकरूपता) को प्राप्त करो ॥

अष्टावक्र गीता- छठवां अध्याय		
॥१॥	**अष्टावक्र उवाच –** **आकाशवदनन्तोऽहं घटवत् प्राकृतं जगत्।** **इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः॥**	अष्टावक्र कहते हैं - आकाश के समान मैं अनंत हूँ और यह जगत घड़े के समान महत्त्वहीन है, यह ज्ञान है। इसका न त्याग करना है और न ग्रहण, बस इसके साथ एकरूप होना है॥
॥२॥	**महोदधिरिवाहं स प्रपंचो वीचिसऽन्निभः।** **इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः॥**	मैं महासागर के समान हूँ और यह दृश्यमान संसार लहरों के समान। यह ज्ञान है, इसका न त्याग करना है और न ग्रहण बस इसके साथ एकरूप होना है॥
॥३॥	**अहं स शुक्तिसङ्काशो रूप्यवद् विश्वकल्पना।** **इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः॥**	यह विश्व मुझमें वैसे ही कल्पित है जैसे कि सीप में चाँदी। यह ज्ञान है, इसका न त्याग करना है और न ग्रहण बस इसके साथ एकरूप होना है॥
॥४॥	**अहं वा सर्वभूतेषु सर्वभूतान्यथो मयि।** **इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः॥**	मैं समस्त प्राणियों में हूँ जैसे सभी प्राणी मुझमें हैं। यह ज्ञान है, इसका न त्याग करना है और न ग्रहण बस इसके साथ एकरूप होना है॥

अष्टावक्र गीता- सातवां अध्याय		
॥१॥	जनक उवाच – मय्यनंतमहांभोधौ विश्वपोत इतस्ततः। भ्रमति स्वांतवातेन न ममास्त्यसहिष्णुता॥	राजा जनक कहते हैं - मुझ अनंत महासागर में विश्व रूपी जहाज अपनी अन्तः वायु से इधर - उधर घूमता है पर इससे मुझमें विक्षोभ नहीं होता है॥
॥२॥	मय्यनंतमहांभोधौ जगद्वीचिः स्वभावतः। उदेतु वास्तमायातु न मे वृद्धिर्न च क्षतिः॥	मुझ अनंत महासागर में विश्व रूपी लहरें माया से स्वयं ही उदित और अस्त होती रहती हैं, इससे मुझमें वृद्धि या क्षति नहीं होती है॥
॥३॥	मय्यनंतमहांभोधौ विश्वं नाम विकल्पना। अतिशांतो निराकार एतदेवाहमास्थितः॥	मुझ अनंत महासागर में विश्व एक अवास्तविकता (स्वप्न) है, मैं अति शांत और निराकार रूप से स्थित हूँ॥
॥४॥	नात्मा भावेषु नो भावस्- तत्रानन्ते निरंजने। इत्यसक्तोऽस्पृहः शान्त एतदेवाहमास्थितः॥	उस अनंत और निरंजन अवस्था में न 'मैं' का भाव है और न कोई अन्य भाव ही, इस प्रकार असक्त, बिना किसी इच्छा के और शांत रूप से मैं स्थित हूँ॥
॥५॥	अहो चिन्मात्रमेवाहं इन्द्रजालोपमं जगत्। अतो मम कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना॥	आश्चर्य मैं शुद्ध चैतन्य हूँ और यह जगत असत्य जादू के समान है, इस प्रकार मुझमें कहाँ और कैसे अच्छे (उपयोगी) और बुरे (अनुपयोगी) की कल्पना॥

अष्टावक्र गीता -आठवाँ अध्याय		
॥१॥	अष्टावक्र उवाच – तदा बन्धो यदा चित्तं किन्चिद् वांछति शोचति।किंचिन् मुंचति गृण्हाति किंचिद् हृष्यति कुप्यति॥	श्री अष्टावक्र कहते हैं - तब बंधन है जब मन इच्छा करता है, शोक करता है, कुछ त्याग करता है, कुछ ग्रहण करता है, कभी प्रसन्न होता है या कभी क्रोधित होता है॥
॥२॥	तदा मुक्तिर्यदा चित्तं न वांछति न शोचति। न मुंचति न गृण्हाति न हृष्यति न कुप्यति॥	तब मुक्ति है जब मन इच्छा नहीं करता है, शोक नहीं करता है, त्याग नहीं करता है, ग्रहण नहीं करता है, प्रसन्न नहीं होता है या क्रोधित नहीं होता है॥
॥३॥	तदा बन्धो यदा चित्तं सक्तं काश्वपि दृष्टिषु। तदा मोक्षो यदा चित्तम- सक्तं सर्वदृष्टिषु॥	तब बंधन है जब मन किसी भी दृश्यमान वस्तु में आसक्त है, तब मुक्ति है जब मन किसी भी दृश्यमान वस्तु में आसक्तिरहित है ॥
॥४॥	यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बन्धनं तदा। मत्वेति हेलया किंचिन्- मा गृहाण विमुंच मा॥	जब तक 'मैं' या 'मेरा' का भाव है तब तक बंधन है, जब 'मैं' या 'मेरा' का भाव नहीं है तब मुक्ति है। यह जानकर न कुछ त्याग करो और न कुछ ग्रहण ही करो ॥

अष्टावक्र गीता- नवां अध्याय		
॥१॥	**अष्टावक्र उवाच –** **कृताकृते च द्वन्द्वानि कदा शान्तानि कस्य वा।** **एवं ज्ञात्वेह निर्वेदाद् भव त्यागपरोऽव्रती॥**	श्री अष्टावक्र कहते हैं - यह कार्य करने योग्य है अथवा न करने योग्य और ऐसे ही अन्य द्वंद्व (हाँ या न रूपी संशय) कब और किसके शांत हुए हैं। ऐसा विचार करके विरक्त (उदासीन) हो जाओ, त्यागवान बनो, ऐसे किसी नियम का पालन न करने वाले बनो॥
॥२॥	**कस्यापि तात धन्यस्य लोकचेष्टावलोकनात्।** **जीवितेच्छा बुभुक्षा च बुभुत्सोपशमं गताः॥**	हे पुत्र! इस संसार की (व्यर्थ) चेष्टा को देख कर किसी धन्य पुरुष की ही जीने की इच्छा, भोगों के उपभोग की इच्छा और भोजन की इच्छा शांत हो पाती है॥
॥३॥	**अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रयदूषितं।** **असारं निन्दितं हेयमि- ति निश्चित्य शाम्यति॥**	यह सब अनित्य है, तीन प्रकार के कष्टों (दैहिक, दैविक भौतिक) से घिरा है, सारहीन है, निंदनीय है, त्याग करने योग्य है, ऐसा निश्चित करके ही शांति प्राप्त होती है॥
॥४॥	**कोऽसौ कालो वयः किं वा यत्र द्वन्द्वानि नो नृणां। तान्युपेक्ष्य यथाप्राप्तवर्ती सिद्धि मवाप्नुयात्॥**	ऐसा कौन सा समय अथवा उम्र है जब मनुष्य के संशय नहीं रहे हैं, अतः संशयों की उपेक्षा करके अनायास सिद्धि को प्राप्त करो॥

॥५॥	नाना मतं महर्षीणां साधूनां योगिनां तथा। दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नः को न शाम्यति मानवः॥	महर्षियों, साधुओं और योगियों के विभिन्न मतों को देखकर कौन मनुष्य वैराग्यवान होकर शांत नहीं हो जायेगा॥
॥६॥	कृत्वा मूर्तिपरिज्ञानं चैतन्यस्य न किं गुरुः। निर्वेदसमतायुक्त्या यस्तारयति संसृतेः॥	चैतन्य का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करके कौन वैराग्य और समता से युक्त कौन गुरु जन्म और मृत्यु के बंधन से तार नहीं देगा॥
॥७॥	पश्य भूतविकारांस्त्वं भूतमात्रान् यथार्थतः। तत्क्षणाद् बन्धनिर्मुक्तः स्वरूपस्थो भविष्यसि॥	तत्त्वों के विकार को वास्तव में उनकी मात्रा के परिवर्तन के रूप में देखो, ऐसा देखते ही उसी क्षण तुम बंधन से मुक्त होकर अपने स्वरुप में स्थित हो जाओगे॥
॥८॥	वासना एव संसार इति सर्वा विमुंच ताः। तत्त्यागो वासनात्यागा- त्स्थितिरद्य यथा तथा॥	इच्छा ही संसार है, ऐसा जानकर सबका त्याग कर दो, उस त्याग से इच्छाओं का त्याग हो जायेगा और तुम्हारी यथारूप अपने स्वरुप में स्थिति हो जाएगी॥
	अष्टावक्र गीता - दसवां अध्याय	
॥१॥	अष्टावक्र उवाच – विहाय वैरिणं कामम- र्थं चानर्थसंकुलं। धर्ममप्येतयोर्हेतुं सर्वत्रानादरं कुरु॥	श्री अष्टावक्र कहते हैं - कामना और अनर्थों के समूह धन रूपी शत्रुओं को त्याग दो, इन दोनों के त्याग रूपी धर्म से युक्त होकर सर्वत्र विरक्त (उदासीन) हो जाओ॥

॥२॥	स्वप्नेन्द्रजालवत् पश्य दिनानि त्रीणि पंच वा। मित्रक्षेत्रधनागार- दारदायादिसंपदः॥	मित्र, जमीन, कोषागार, पत्नी और अन्य संपत्तियों को स्वप्न की माया के समान तीन या पाँच दिनों में नष्ट होने वाला देखो॥
॥३॥	यत्र यत्र भवेत्तृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै। प्रौढवैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णः सुखी भव॥	जहाँ जहाँ आसक्ति हो उसको ही संसार जानो, इस प्रकार परिपक्व वैराग्य के आश्रय में तृष्णारहित होकर सुखी हो जाओ॥
॥४॥	तृष्णामात्रात्मको बन्धस्- तन्नाशो मोक्ष उच्यते।भवासंसक्तिमात्रेण प्राप्ति तुष्टिर्मुहुर्मुहुः॥	तृष्णा मात्र ही स्वयं का बंधन है, उसके नाश को मोक्ष कहा जाता है।संसार में अनासक्ति से ही निरंतर आनंद की प्राप्ति होती है॥
॥५॥	त्वमेकश्चेतनः शुद्धो जडं विश्वमसत्तथा। अविद्यापि न किंचित्सा का बुभुत्सा तथापि ते॥	तुम एक(अद्वितीय), चेतन और शुद्ध हो तथा यह विश्व अचेतन और असत्य है। तुममें अज्ञान का लेश मात्र भी नहीं है और जानने की इच्छा भी नहीं है॥
॥६॥	राज्यं सुताः कलत्राणि शरीराणि सुखानि च। संसक्तस्यापि नष्टानि तव जन्मनि जन्मनि॥	पूर्व जन्मों में बहुत बार तुम्हारे राज्य, पुत्र, स्त्री, शरीर और सुखों का, तुम्हारी आसक्ति होने पर भी नाश हो चुका है॥
॥७॥	अलमर्थेन कामेन सुकृतेनापि कर्मणा। एभ्यः संसारकान्तारे न विश्रान्तमभून् मनः॥	पर्याप्त धन, इच्छाओं और शुभ कर्मों द्वारा भी इस संसार रूपी माया से मन को शांति नहीं मिली॥

॥८॥	कृतं न कति जन्मानि कायेन मनसा गिरा। दुःखमायासदं कर्म तदद्याप्युपरम्यताम्॥	कितने जन्मों में शरीर, मन,वाणी से दुःख के कारण कर्मों को तुमने नहीं किया? अब उनसे विरक्त हो जाओ॥
अष्टावक्र गीता- ग्यारहवा अध्याय		
॥१॥	अष्टावक्र उवाच – भावाभावविकारश्च स्वभावादिति निश्चयी। निर्विकारो गतक्लेशः सुखेनैवोपशाम्यति॥	श्री अष्टावक्र कहते हैं - भाव(सृष्टि, स्थिति) और अभाव(प्रलय, मृत्यु) रूपी विकार स्वाभाविक हैं, ऐसा निश्चित रूप से जानने वाला विकाररहित, दुखरहित होकर सुख पूर्वक शांति को प्राप्त हो जाता है॥
॥२॥	ईश्वरः सर्वनिर्माता नेहान्य इति निश्चयी। अन्तर्गलितसर्वाशः शान्तः क्वापि न सज्जते॥	ईश्वर सबका सृष्टा है कोई अन्य नहीं ऐसा निश्चित रूप से जानने वाले की सभी आन्तरिक इच्छाओं का नाश हो जाता है। शांत पुरुष सर्वत्र आसक्ति रहित हो जाता है॥
॥३॥	आपदः संपदः काले दैवादेवेति निश्चयी। तृप्तः स्वस्थेन्द्रियो नित्यं न वान्छति न शोचति॥	संपत्ति (सुख) और विपत्ति (दुःख) का समय प्रारब्धवश (पूर्व कृत कर्मों के अनुसार) है, ऐसा निश्चित रूप से जानने वाला संतोष और निरंतर संयमित इन्द्रियों से युक्त हो जाता है। वह न इच्छा करता है और न शोक॥

॥४॥	**सुखदुःखे जन्ममृत्यू दैवादेवेति निश्चयी। साध्यादर्शी निरायासः कुर्वन्नपि न लिप्यते॥**	सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु प्रारब्धवश हैं, ऐसा निश्चित रूप से जानने वाला, फल की इच्छा न रखने वाला, सरलता से कर्म करते हुए भी उनसे लिप्त नहीं होता है॥
॥५॥	**चिन्तया जायते दुःखं नान्यथेहेति निश्चयी। तया हीनः सुखी शान्तः सर्वत्र गलितस्पृहः॥**	चिंता से ही दुःख उत्पन्न होते हैं ,अन्य कारण से नहीं, ऐसा निश्चित रूप से जानने वाला, चिंता से रहित होकर सुखी, शांत और सभी इच्छाओं से मुक्त हो जाता है॥
॥६॥	**नाहं देहो न मे देहो बोधोऽहमिति निश्चयी। कैवल्यं इव संप्राप्तो न स्मरत्यकृतं कृतम्॥**	न मैं यह शरीर हूँ और न यह शरीर मेरा है, मैं ज्ञानस्वरुप हूँ, ऐसा निश्चित रूप से जानने वाला जीवन मुक्ति को प्राप्त करता है। वह किये हुए और न किये हुए कर्मों का स्मरण नहीं करता है॥
॥७॥	**आब्रह्मस्तंबपर्यन्तं अहमेवेति निश्चयी। निर्विकल्पः शुचिः शान्तः प्राप्ताप्राप्तवि निर्वृतः॥**	तृण से लेकर ब्रह्मा तक सब कुछ मैं ही हूँ, ऐसा निश्चित रूप से जानने वाला विकल्प (कामना) रहित, पवित्र, शांत और प्राप्त-अप्राप्त से आसक्ति रहित हो जाता है॥
॥८॥	**नाश्चर्यमिदं विश्वं न किंचिदिति निश्चयी। निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किंचिदिव शाम्यति॥**	अनेक आश्चर्यों से युक्त यह विश्व अस्तित्वहीन है, ऐसा निश्चित रूप से जानने वाला, इच्छा रहित और शुद्ध अस्तित्व हो , अपार शांति को प्राप्त करता है॥

अष्टावक्र गीता - बारहवां अध्याय		
॥१॥	**जनक उवाच –** **कायकृत्यासहः पूर्वं ततो वाग्विस्तरासहः।** **अथ चिन्तासहस्तस्माद् एवमेवाहमास्थितः॥**	श्री जनक कहते हैं - पहले मैं शारीरिक कर्मों से निरपेक्ष हुआ, फिर वाणी से निरपेक्ष (उदासीन) हुआ। अब चिंता से निरपेक्ष (उदासीन) होकर अपने स्वरुप में स्थित हूँ॥
॥२॥	**प्रीत्यभावेन शब्दादेर- दृश्यत्वेन चात्मनः।** **विक्षेपैकाग्रहृदय एवमेवाहमास्थितः॥**	शब्द आदि विषयों में आसक्ति रहित होकर और आत्मा के दृष्टि का विषय न होने के कारण मैं निश्चल और एकाग्र हृदय से अपने स्वरुप में स्थित हूँ॥
॥३॥	**समाध्यासादिविक्षिप्तौ व्यवहारः समाधये।** **एवं विलोक्य नियमं एवमेवाहमास्थितः॥**	अध्यास (असत्य ज्ञान) आदि असामान्य स्थितियों और समाधि को एक नियम के समान देखते हुए मैं अपने स्वरुप में स्थित हूँ॥
॥४॥	**हेयोपादेयविरहाद् एवं हर्षविषादयोः।** **अभावादद्य हे ब्रह्मन् एवमेवाहमास्थितः॥**	हे ब्रह्म को जानने वाले! त्याज्य (छोड़ने योग्य) और संग्रहणीय से दूर होकर और सुख-दुःख के अभाव में मैं अपने स्वरुप में स्थित हूँ॥
॥५॥	**आश्रमानाश्रमं ध्यानं चित्तस्वीकृतवर्जनं।** **विकल्पं मम वीक्ष्यै- तैरेवमेवाहमास्थितः॥**	आश्रम - अनाश्रम, ध्यान और मन द्वारा स्वीकृत और निषिद्ध नियमों को देख कर मैं अपने स्वरुप में स्थित हूँ॥

॥६॥	कर्मानुष्ठानमज्ञानाद् यथैवोपरमस्तथा। बुध्वा सम्यगिदं तत्त्वं एवमेवाहमास्थितः॥	कर्मों के अनुष्ठान रूपी अज्ञान से निवृत्त होकर और तत्त्व को सम्यकरूप से जान कर मैं अपने स्वरुप में स्थित हूँ॥
॥७॥	अचिंत्यं चिंत्यमानोऽपि चिन्तारूपं भजत्यसौ। त्यक्त्वा तद्भावनं तस्माद् एवमेवाहमास्थितः॥	अचिन्त्य के सम्बन्ध में विचार करते हुए भी विचार पर ही चिंतन किया जाता है। अतः उस विचार का भी परित्याग करके मैं अपने स्वरुप में स्थित हूँ॥
॥८॥	एवमेव कृतं येन स कृतार्थो भवेदसौ। एवमेव स्वभावो यः स कृतार्थो भवेदसौ॥	जो इस प्रकार से आचरण करता है वह कृतार्थ (मुक्त) हो जाता है; जिसका इस प्रकार का स्वभाव है वह कृतार्थ (मुक्त) हो जाता है॥
	अष्टावक्र गीता - तेरहवां अध्याय	
॥१॥	जनक उवाच- अकिंचनभवं स्वास्थ्यं कौपीनत्वेऽपि दुर्लभं। त्यागादाने विहायास्माद- हमासे यथासुखम्॥	श्री जनक कहते हैं - अकिंचन(कुछ अपना न) होने की सहजता केवल कौपीन पहनने पर भी मुश्किल से प्राप्त होती है, अतः त्याग और संग्रह की प्रवृत्तियों को छोड़कर सभी स्थितियों में, मैं सुखपूर्वक विद्यमान हूँ॥
॥२॥	कुत्रापि खेदः कायस्य जिह्वा कुत्रापि खेद्यते। मनः कुत्रापि तत्त्यक्त्वा पुरुषार्थे स्थितः सुखम्॥	शारीरिक दुःख भी कहाँ(अर्थात् नहीं) हैं, वाणी के दुःख भी कहाँ हैं, वहाँ मन भी कहाँ है, सभी प्रयत्नों को त्याग कर सभी स्थितियों में, मैं सुखपूर्वक विद्यमान हूँ॥

॥३॥	**कृतं किमपि नैव स्याद् इति संचिन्त्य तत्त्वतः। यदा यत्कर्तुमायाति तत् कृत्वासे यथासुखम्॥**	किये हुए किसी कार्य का वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं है, ऐसा तत्त्वपूर्वक विचार करके जो भी कर्त्तव्य है उसको करते हुए सभी स्थितियों में, मैं सुखपूर्वक विद्यमान हूँ॥
॥४॥	**कर्मनैष्कर्म्यनिर्बन्ध- भावा देहस्थयोगिनः। संयोगायोगविरहादह- मासे यथासुखम्॥**	शरीर भाव में स्थित योगियों के लिए कर्म ,अकर्म रूपी बंधनकारी भाव होते हैं, संयोग ,वियोग की प्रवृत्तियों को छोड़कर सभी स्थितियों में, मैं सुखपूर्वक विद्यमान हूँ॥
॥५॥	**अर्थानर्थौ न मे स्थित्या गत्या न शयनेन वा। तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् तस्मादहमासे यथासुखम्॥**	विश्राम, गति, शयन, बैठने, चलने और स्वप्न में वस्तुतः मेरे लाभ और हानि नहीं हैं, अतः सभी स्थितियों में, मैं सुखपूर्वक विद्यमान हूँ॥
॥६॥	**स्वपतो नास्ति मे हानिः सिद्धिर्यत्नवतो न वा। नाशोल्लासौ विहायास्- मदहमासे यथासुखम्॥**	सोने में मेरी हानि नहीं है और उद्योग अथवा अनुद्योग में मेरा लाभ नहीं है अतः हर्ष और शोक की प्रवृत्तियों को छोड़कर सभी स्थितियों में, मैं सुखपूर्वक विद्यमान हूँ॥
॥७॥	**सुखादिरूपा नियमं भावेष्वालोक्य भूरिशः। शुभाशुभे विहायास्मादह- मासे यथासुखम्॥**	सुख, दुःख आदि स्थितियों के क्रम से आने के नियम पर बार बार विचार करके, शुभ(अच्छे) और अशुभ(बुरे) की प्रवृत्तियों को छोड़कर सभी स्थितियों में, मैं सुखपूर्वक विद्यमान हूँ॥

अष्टावक्र गीता - चौदहवां अध्याय		
॥१॥	**जनक उवाच –** **प्रकृत्या शून्यचित्तो यः प्रमादाद् भावभावनः।** **निद्रितो बोधित इव क्षीण- संस्मरणो हि सः॥**	श्रीजनक कहते हैं - जो स्वभाव से ही विचारशून्य है और शायद ही कभी कोई इच्छा करता है वह पूर्व स्मृतियों से उसी प्रकार मुक्त हो जाता है जैसे कि नींद से जागा हुआ व्यक्ति अपने सपनों से॥
॥२॥	**क्व धनानि क्व मित्राणि क्व मे विषयदस्यवः।** **क्व शास्त्रं क्व च विज्ञानं यदा मे गलिता स्पृहा॥**	जब मैं कोई इच्छा नहीं करता तब मुझे धन, मित्रों, विषयों, शास्त्रों और विज्ञान से क्या प्रयोजन है॥
॥३॥	**विज्ञाते साक्षिपुरुषे परमात्मनि चेश्वरे।** **नैराश्ये बंधमोक्षे च न चिंता मुक्तये मम॥**	साक्षी पुरुष रूपी परमात्मा या ईश्वर को जानकर मैं बंधन और मोक्ष से निरपेक्ष हो गया हूँ और मुझे मोक्ष की चिंता भी नहीं है॥
॥४॥	**अंतर्विकल्पशून्यस्य बहिः स्वच्छन्दचारिणः।** **भ्रान्तस्येव दशास्तास्तास्- तादृशा एव जानते॥**	आतंरिक इच्छाओं से रहित, बाह्य रूप में चिंतारहित आचरण वाले, प्रायः मत्त पुरुष जैसे ही दिखने वाले प्रकाशित पुरुष अपने जैसे प्रकाशित पुरुषों द्वारा ही पहचाने जा सकते हैं॥

अष्टावक्र गीता -पंद्रहवां अध्याय		
॥१॥	**अष्टावक्र उवाच –** **यथातथोपदेशेन कृतार्थः सत्त्वबुद्धिमान्।** **आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति॥**	श्रीअष्टावक्र कहते हैं - सात्विक बुद्धि से युक्त मनुष्य साधारण प्रकार के उपदेश से भी कृतकृत्य(मुक्त) हो जाता है परन्तु ऐसा न होने पर आजीवन जिज्ञासु होने पर भी परब्रह्म का यथार्थ ज्ञान नहीं होता है॥
॥२॥	**मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः।** **एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु॥**	विषयों से उदासीन होना मोक्ष है और विषयों में रस लेना बंधन है, ऐसा जानकर तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा करो॥
॥३॥	**वाग्मिप्राज्ञामहोद्योगं जनं मूकजडालसं।** **करोति तत्त्वबोधोऽयम- तस्त्यक्तो बुभुक्षभिः॥**	वाणी, बुद्धि और कर्मों से महान कार्य करने वाले मनुष्यों को तत्त्व-ज्ञान शांत, स्तब्ध और कर्म न करने वाला बना देता है, अतः सुख की इच्छा रखने वाले इसका त्याग कर देते हैं॥
॥४॥	**न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्ता न वा भवान्। चिद्रूपोऽसि सदा साक्षी निरपेक्षः सुखं चर॥**	न तुम शरीर हो और न यह शरीर तुम्हारा है, न ही तुम भोगने वाले अथवा करने वाले हो, तुम चैतन्य रूप हो, शाश्वत साक्षी हो, इच्छा रहित हो, अतः सुखपूर्वक रहो॥

॥५॥	**रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन। निर्विकल्पोऽसि बोधात्मा निर्विकारः सुखं चर॥**	राग(प्रियता) और द्वेष(अप्रियता) मन के धर्म हैं और तुम किसी भी प्रकार से मन नहीं हो, तुम कामनारहित हो, ज्ञान स्वरुप हो, विकार रहित हो, अतः सुखपूर्वक रहो॥
॥६॥	**सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। विज्ञाय निरहंकारो निर्ममस्त्वं सुखी भव॥**	समस्त प्राणियों को स्वयं में और स्वयं को सभी प्राणियों में स्थित जान कर अहंकार और आसक्ति से रहित होकर तुम सुखी हो जाओ॥
॥७॥	**विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरंगा इव सागरे। तत्त्वमेव न सन्देह- श्चिन्मूर्ते विज्वरो भव॥**	इस विश्व की उत्पत्ति तुमसे उसी प्रकार होती है जैसे कि समुद्र से लहरों की, इसमें संदेह नहीं है। तुम चैतन्य स्वरुप हो, अतः चिंता रहित हो जाओ॥
॥८॥	**श्रद्धस्व तात श्रद्धस्व नात्र मोऽहं कुरुष्व भोः। ज्ञानस्वरूपो भगवा- नात्मा त्वं प्रकृतेः परः॥**	हे प्रिय! इस अनुभव पर निष्ठा , श्रद्धा रखो, इस अनुभव की सत्यता के सम्बन्ध में मोहित मत हो, तुम ज्ञान स्वरुप हो, तुम प्रकृति से परे और आत्म स्वरुप भगवान हो॥
॥९॥	**गुणैः संवेष्टितो देह- स्तिष्ठत्यायाति याति च। आत्मा न गंता नागंता किमेनमनुशोचसि॥**	गुणों से निर्मित यह शरीर स्थिति, जन्म और मरण को प्राप्त होता है, आत्मा न आती है और न ही जाती है, अतः तुम क्यों शोक करते हो॥

॥१०॥	देहस्तिष्ठतु कल्पान्तं गच्छत्वद्यैव वा पुनः। क्व वृद्धिः क्व च वा हानिस्- तव चिन्मात्ररूपिणः॥	यह शरीर सृष्टि के अंत तक रहे अथवा आज ही नाश को प्राप्त हो जाये, तुम तो चैतन्य स्वरुप हो, इससे तुम्हारी क्या हानि या लाभ है॥
॥११॥	त्वय्यनंतमहांभोधौ विश्ववीचिः स्वभावतः। उदेतु वास्तमायातु न ते वृद्धिर्न वा क्षतिः॥	अनंत महासमुद्र रूप तुम में लहर रूप यह विश्व स्वभाव से ही उदय और अस्त को प्राप्त होता है, इसमें तुम्हारी क्या वृद्धि या क्षति है॥
॥१२॥	तात चिन्मात्ररूपोऽसि न ते भिन्नमिदं जगत्। अतः कस्य कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना॥	हे प्रिय, तुम केवल चैतन्य रूप हो और यह विश्व तुमसे अलग नहीं है, अतः किसी की किसी से श्रेष्ठता या निम्नता की कल्पना किस प्रकार की जा सकती है॥
॥१३॥	एकस्मिन्नव्यये शान्ते चिदाकाशेऽमले त्वयि। कुतो जन्म कुतो कर्म कुतोऽहंकार एव च॥	इस अव्यय, शांत, चैतन्य, निर्मल आकाश में तुम अकेले ही हो, अतः तुममें जन्म, कर्म और अहंकार की कल्पना किस प्रकार की जा सकती है॥
॥१४॥	यत्त्वं पश्यसि तत्रैकस्- त्वमेव प्रतिभाससे। किं पृथक् भासते स्वर्णात् कटकांगदनूपुरम्॥	तुम एक होते हुए भी अनेक रूप में प्रतिबिंबित होकर दिखाई देते हो। क्या स्वर्ण कंगन, बाज़ूबन्द और पायल से अलग दिखाई देता है॥

॥१५॥	**अयं सोऽहमयं नाहं विभागमिति संत्यज। सर्वमात्मेति निश्चित्य निःसङ्कल्पः सुखी भव॥**	यह मैं हूँ और यह मैं नहीं हूँ, इस प्रकार के भेद को त्याग दो। सब कुछ आत्मस्वरूप तुम ही हो, ऐसा निश्चय करके और कोई संकल्प न करते हुए सुखी हो जाओ॥
॥१६॥	**तवैवाज्ञानतो विश्वं त्वमेकः परमार्थतः। त्वत्तोऽन्यो नास्ति संसारी नासंसारी च कश्चन॥**	अज्ञानवश तुम ही यह विश्व हो पर ज्ञान दृष्टि से देखने पर केवल एक तुम ही हो, तुमसे अलग कोई दूसरा संसारी या असंसारी किसी भी प्रकार से नहीं है॥
॥१७॥	**भ्रान्तिमात्रमिदं विश्वं न किंचिदिति निश्चयी। निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किंचिदिव शाम्यति॥**	यह विश्व केवल भ्रम(स्वप्न की तरह असत्य) है और कुछ भी नहीं, ऐसा निश्चय करो।इच्छा और चेष्टा रहित हुए बिना कोई भी शांति को प्राप्त नहीं होता है॥
॥१८॥	**एक एव भवांभोधा- वासीदस्ति भविष्यति।न ते बन्धोऽस्ति मोक्षो वा कृत्यकृत्यः सुखं चर॥**	एक ही भवसागरथा, है और रहेगा। तुममें न मोक्ष है और न बंधन, आप्त-काम होकर सुख से विचरण करो॥
॥१९॥	**मा सङ्कल्पविकल्पाभ्यां चित्तं क्षोभय चिन्मय। उपशाम्य सुखं तिष्ठ स्वात्मन्यानन्दविग्रहे॥**	हे चैतन्यरूप! भाँति-भाँति के संकल्पों और विकल्पों से अपने चित्त को अशांत मत करो, शांत होकर अपने आनंद रूप में सुख से स्थित हो जाओ॥

॥२०॥	त्यजैव ध्यानं सर्वत्र मा किंचिद् हृदि धारय। आत्मा त्वं मुक्त एवासि किं विमृश्य करिष्यसि॥	सभी स्थानों से अपने ध्यान को हटा लो और अपने हृदय में कोई विचार न करो। तुम आत्मरूप हो और मुक्त ही हो, इसमें विचार करने की क्या आवश्यकता है॥
अष्टावक्र गीता - सोलहवां अध्याय		
॥१॥	अष्टावक्र उवाच - आचक्ष्व शृणु वा तात नानाशास्त्राण्यनेकशः। तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणाद् ऋते॥	श्री अष्टावक्र कहते हैं - हे प्रिय, विद्वानों से सुनकर अथवा बहुत शास्त्रों के पढ़ने से तुम्हारी आत्म स्वरुप में, स्थिति नहीं होगी जैसी सब कुछ उचित रीति से भूल जाने से॥
॥२॥	भोगं कर्म समाधिं वा कुरु विज्ञ तथापि ते। चित्तं निरस्तसर्वाशाम- त्यर्थं रोचयिष्यति॥	कर्म भोग करो या समाधि में रहो पर चूँकि तुम विद्वान हो अतः तुम्हें चित्त की सभी आशाओं को शांत करना अत्यंत आनंदप्रद होगा॥
॥३॥	आयासात्सकलो दुःखी नैनं जानाति कश्चन। अनेनैवोपदेशेन धन्यः प्राप्नोति निर्वृतिम्॥	प्रयत्न से ही सभी दुखी हैं पर कोई इसे जानता नहीं है। इस निष्पाप उपदेश से ही भाग्यवान व्यक्ति सभी वृत्तियों से रहित हो जाते हैं॥
॥४॥	व्यापारे खिद्यते यस्तु निमेषोन्मेषयोरपि। तस्यालस्य धुरीणस्य सुखं नन्यस्य कस्यचित्॥	जिसको पलकों का खोलना और बंद करना भी कार्य लगता है उस परम आलसी के लिए ही सुख है अन्य किसी के लिए किसी भी प्रकार से नहीं॥

॥५॥	**इदं कृतमिदं नेति द्वंद्वैर्मुक्तं यदा मनः।** **धर्मार्थकाममोक्षेषु निरपेक्षं तदा भवेत्॥**	यह करना चाहिए और यह नहीं जब मन इस प्रकार के द्वंद्वों से से मुक्त हो जाता है तब उसको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की अपेक्षा (इच्छा) नहीं रहती॥
॥६॥	**विरक्तो विषयद्वेष्टा रागी विषयलोलुपः।** **ग्रहमोक्षविहीनस्तु न विरक्तो न रागवान्॥**	न विषयों से द्वेष करने वाला विरक्त, न ही विषयों में आसक्त रागवान, वह तो निश्चय ही विषयों के ग्रहण और त्याग से विहीन है॥
॥७॥	**हेयोपादेयता तावत्- संसारविटपांकुरः।** **स्पृहा जीवति यावद् वै निर्विचारदशास्पदम्॥**	जब तक (विषयों के) ग्रहण और त्याग की कामना रहती है तब तक संसार रूपी वृक्ष का अंकुर विद्यमान है, अतः विचारहीन अवस्था का आश्रय लो॥
॥८॥	**प्रवृत्तौ जायते रागो निर्वृत्तौ द्वेष एव हि।** **निर्द्वन्द्वो बालवद् धीमान् एवमेव व्यवस्थितः॥**	प्रवृत्ति से आसक्ति और निवृत्ति से द्वेष उत्पन्न होता है,अतः बुद्धिमान, बालक के समान निर्द्वंद्व होकर स्थित रहे॥
॥९॥	**हातुमिच्छति संसारं रागी दुःखजिहासया।** **वीतरागो हि निर्दुःखस्- तस्मिन्नपि न खिद्यति॥**	विषय में आसक्त पुरुष दुःख से बचने के लिए संसार का त्याग करना चाहता है पर वह विरक्त ही सुखी है जो उन दुखों में भी खेद नहीं करता है॥

॥१०॥	**यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहेऽपि ममता तथा। न च ज्ञानी न वा योगी केवलं दुःखभागसौ॥**	जो मोक्ष भी चाहता और इस शरीर में आसक्ति भी रखता है, वह न ज्ञानी है और न योगी बल्कि केवल दुःख को प्राप्त करने वाला है॥
॥११॥	**हरो यद्युपदेष्टा ते हरिः कमलजोऽपि वा। तथापि न तव स्वाथ्यं सर्वविस्मरणादृते॥**	यदि तुम्हारे उपदेशक साक्षात् शिव, विष्णु या ब्रह्मा भी हों तो भी सब कुछ विस्मरण किये बिना तुम आत्म स्वरुप को प्राप्त नहीं होगे॥
	अष्टावक्र गीता - सत्रहवां अध्याय	
॥१॥	**अष्टावक्र उवाच – तेन ज्ञानफलं प्राप्तं योगाभ्यासफलं तथा। तृप्तः स्वच्छेन्द्रियो नित्यं एकाकी रमते तु यः॥**	अष्टावक्र कहते हैं - उन्होंने ज्ञान और योग (दोनों) का फल प्राप्त कर लिया है जो सदा संतुष्ट, शुद्ध इन्द्रियों वाले और एकांत में रमने वाले हैं ॥
॥२॥	**न कदाचिज्जगत्यस्मिन् तत्त्वज्ञा हन्त खिद्य-ति।यत एकेन तेनेदं पूर्णं ब्रह्माण्ड मण्डलम्॥**	ब्रह्म तत्त्व को जानने वाला कभी भी किसी बात से इस संसार में दुखी नहीं होता है क्योंकि उस ब्रह्म से ही यह सम्पूर्ण विश्व पूर्णतः व्याप्त है॥
॥३॥	**न जातु विषयाः केऽपि स्वारामं हर्षयन्त्यमी। सल्लकीपल्लवप्रीत- मिवेभं निंबपल्लवाः॥**	अपनी आत्मा में रमण करने वाला किसी विषय को प्राप्त करके हर्षित नहीं होता जैसे सलाई के पत्तों से प्रेम करने वाला हाथी नीम के पत्तों को पाकर हर्ष नहीं करता है॥

॥४॥	**यस्तु भोगेषु भुक्तेषु न भवत्यधिवासिता। अभुक्तेषु निराकांक्षी तदृशो भवदुर्लभः॥**	जिसकी प्राप्त हो चुके भोगों में आसक्ति नहीं है और न प्राप्त हुए भोगों की इच्छा नहीं है, ऐसा व्यक्ति इस संसार में दुर्लभ है॥
॥५॥	**बुभुक्षुरिह संसारे मुमुक्षुरपि दृश्यते। भोगमोक्षनिराकांक्षी विरलो हि महाशयः॥**	इस संसार में सांसारिक भोगों की इच्छा वाले भी देखे जाते हैं और मोक्ष की इच्छा वाले भी पर इन दोनों इच्छाओं से रहित महापुरुष का मिलना दुर्लभ है॥
॥६॥	**धर्मार्थकाममोक्षेषु जीविते मरणे तथा। कस्याप्युदारचित्तस्य हेयोपादेयता न हि॥**	धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, जीवन और मृत्यु में उपयोगिता और अनुपयोगिता की समता किसी महात्मा में होती है॥
॥७॥	**वांछा न विश्वविलये न द्वेषस्तस्य च स्थितौ। यथा जीविकया तस्माद् धन्य आस्ते यथा सुखम्॥**	न विश्व के लीन होने की इच्छा और न ही इसकी स्थिति से द्वेष, जैसे जीवन है (वे महात्मा) उसी में आनंदित और कृतकृत्य रहते हैं॥
॥८॥	**कृतार्थोऽनेन ज्ञानेने- त्येवं गलितधीः कृती। पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन्नस्ते यथा सुखम्॥**	इस ज्ञान से कृतार्थ होकर बुद्धि को अन्तर्हित(विलीन) करके देखते हुए, सुनते हुए, स्पर्श करते हुए, सूंघते हुए और खाते हुए सुखपूर्वक रहते हैं॥

॥९॥	**शून्या दृष्टिर्वृथा चेष्टा विकलानीन्द्रियाणि च। न स्पृहा न विरक्तिर्वा क्षीणसंसारसागरे॥**	दृष्टि को शून्य और अस्थिर इन्द्रियों की चेष्टा को नष्ट करके, इस अशक्त संसार रूपी सागर से न तो आसक्ति रखते हैं और न ही विरक्ति॥
॥१०॥	**न जगर्ति न निद्राति नोन्मीलति न मीलति। अहो परदशा क्वापि वर्तते मुक्तचेतसः॥**	न जगता ही है और न सोता ही है, न ही आँखें खोलता या बंद करता है, अहा! उस परम अवस्था में कोई मुक्त चेतना वाला विरला ही रहता है॥
॥११॥	**सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः। समस्तवासना मुक्तो मुक्तः सर्वत्र राजते॥**	सदा स्वयं में स्थित, सर्वत्र स्वच्छ प्रयोजन वाला, समस्त वासनाओं से मुक्त, मुक्त पुरुष सर्वत्र सुशोभित होता है॥
॥१२॥	**पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्न् अश्नन् गृण्हन् वदन् व्रजन्। ईहितानीहितैर्मुक्तो मुक्त एव महाशयः॥**	देखते हुए, सुनते हुए, स्पर्श करते हुए, सूंघते हुए, खाते हुए, लेते हुए, बोलते हुए, चलते हुए, इच्छा करते हुए और इच्छा न करते हुए, ऐसा महात्मा मुक्त ही है॥
॥१३॥	**न निन्दति न च स्तौति न हृष्यति न कुप्यति। न ददाति न गृण्हाति मुक्तः सर्वत्र नीरसः॥**	न निंदा करता है और न प्रशंसा करता है, न लेता है, न देता है, इन सबमें अनासक्त वह सब प्रकार से मुक्त है॥
॥१४॥	**सानुरागां स्त्रियं दृष्ट्वा मृत्युं वा समुपस्थितं। अविह्वलमनाः स्वस्थो मुक्त एव महाशयः॥**	अनुराग-युक्त स्त्रियों को देख कर अथवा मृत्यु को उपस्थित देख कर विचलित न होने वाला, स्वयं में स्थित वह महात्मा मुक्त ही है॥

॥१५॥	**सुखे दुःखे नरे नार्यां संपत्सु विपत्सु च। विशेषो नैव धीरस्य सर्वत्र समदर्शिनः॥**	धीर पुरुष सुख में, दुःख में, पुरुष में, नारी में, संपत्ति में, और विपत्ति में अंतर न देखता हुआ सर्वत्र समदर्शी होता है॥
॥१६॥	**न हिंसा नैव कारुण्यं नौद्धत्यं न च दीनता। नाश्चर्यं नैव च क्षोभः क्षीणसंसरणे नरे॥**	क्षीण संसार वाले पुरुष में न हिंसा और न करुणा, न गर्व और न दीनता, न आश्चर्य और न क्षोभ ही होते हैं॥
॥१७॥	**न मुक्तो विषयद्वेष्टा न वा विषयलोलुपः। असंसक्तमना नित्यं प्राप्ताप्राप्तमुपाश्नुते॥**	मुक्त पुरुष न तो विषयों से द्वेष करता है और न आसक्ति ही, उनकी प्राप्ति और अप्राप्ति में सदा समान मन वाला रहता है॥
॥१८॥	**समाधानसमाधान- हिताहितविकल्पनाः। शून्यचित्तो न जानाति कैवल्यमिव संस्थितः॥**	संदेह और समाधान एवं हित और अहित की कल्पना से परे, शून्य चित्त वाला पुरुष कैवल्य में ही स्थित रहता है॥
॥१९॥	**निर्ममो निरहंकारो न किंचिदिति निश्चितः। अन्तर्गलितसर्वाशः कुर्वन्नपि करोति न॥**	ममता रहित, अहंकार रहित और दृश्य जगत के अस्तित्व रहित होने के निश्चय वाला, सभी इच्छाओं से रहित, करता हुआ भी कुछ नहीं करता॥
॥२०॥	**मनःप्रकाशसंमोह स्वप्नजाड्यविवर्जितः। दशां कामपि संप्राप्तो भवेद् गलितमानसः॥**	कोई भी मन की मोह, स्वप्न और जड़ता से रहित, प्रकाशित अवस्था को प्राप्त कर मन की इच्छाओं से रहित हो जाये॥

अष्टावक्र गीता - अठारहवाँ अध्याय		
॥१॥	अष्टावक्र उवाच – यस्य बोधोदये तावत्- स्वप्नवद् भवति भ्रमः। तस्मै सुखैकरूपाय नमः शान्ताय तेजसे॥	अष्टावक्र कहते हैं - जिस बोध का उदय होने पर, जागने पर स्वप्न के समान भ्रम की निवृत्ति हो जाती है, उस एक, सुखस्वरूप शांत प्रकाश को नमस्कार है॥
॥२॥	अर्जयित्वाखिलान् अर्थान् भोगानाप्नोति पुष्कलान्। न हि सर्वपरित्याजम- न्तरेण सुखी भवेत्॥	जगत के सभी पदार्थों को प्राप्त करके कोई बहुत से भोग प्राप्त कर सकता है पर उन सबका आतंरिक त्याग किये बिना सुखी नहीं हो सकता॥
॥३॥	कर्तव्यदुःखमार्तण्डज्वाला दग्धान्तरात्मनः। कुतः प्रशमपीयूषधारा- सारमृते सुखम्॥	जिसका मन यह कर्तव्य है और यह अकर्तव्य आदि दुखों की तीव्र ज्वाला से झुलस रहा है, उसे भला कर्म त्याग रूपी शांति की अमृत-धारा का सेवन किये बिना सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है॥
॥४॥	भवोऽयं भावनामात्रो न किंचित् परमर्थतः। नास्त्यभावः स्वभावनां भावाभावविभाविनाम्॥	यह संसार केवल एक भावना मात्र है, परमार्थतः कुछ भी नहीं है। भाव और अभाव के रूप में स्वभावतः स्थित पदार्थों का कभी अभाव नहीं हो सकता॥

॥५॥	न दूरं न च संकोचाल्- लब्धमेवात्मनः पदं। निर्विकल्पं निरायासं निर्विकारं निरंजनम्॥	आत्मा न तो दूर है और न पास, वह तो प्राप्त ही है, तुम स्वयं ही हो उसमें न विकल्प है, न प्रयत्न, न विकार और न मल ही॥
॥६॥	व्यामोहमात्रविरतौ स्वरूपादानमात्रतः। वीतशोका विराजन्ते निरावरणदृष्टयः॥	अज्ञान मात्र की निवृत्ति और स्वरुप का ज्ञान होते ही दृष्टि का आवरण भंग हो जाता है और तत्त्व को जानने वाला शोक से रहित होकर शोभायमान हो जाता है॥
॥७॥	समस्तं कल्पनामात्र- मात्मा मुक्तः सनातनः। इति विज्ञाय धीरो हि किमभ्यस्यति बालवत्॥	सब कुछ कल्पना मात्र है और आत्मा नित्य मुक्त है, धीर पुरुष इस तथ्य को जान कर फिर बालक के समान क्या अभ्यास करे ?
॥८॥	आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ। निष्कामः किं विजानाति किं ब्रूते च करोति किम्॥	आत्मा ही ब्रह्म है और भाव-अभाव कल्पित हैं - ऐसा निश्चय हो जाने पर निष्काम ज्ञानी फिर क्या जाने, क्या कहे और क्या कहे॥
॥९॥	अयं सोऽहमयं नाहं इति क्षीणा विकल्पना। सर्वमात्मेति निश्चित्य तूष्णींभूतस्य योगिनः॥	सब आत्मा ही है - ऐसा निश्चय करके जो चुप हो गया है, उस पुरुष के लिए यह मैं हूँ, यह मैं नहीं हूँ आदि कल्पनाएँ भी शांत हो जाती हैं॥

॥१०॥	**न विक्षेपो न चैकाग्र्यं नातिबोधो न मूढता। न सुखं न च वा दुःखं उपशान्तस्य योगिनः॥**	अपने स्वरुप में स्थित होकर शांत हुए तत्त्व ज्ञानी के लिए न विक्षेप है और न एकाग्रता, न ज्ञान है और न अज्ञान, न सुख है और न दुःख॥
॥११॥	**स्वाराज्ये भैक्षवृत्तौ च लाभालाभे जने वने। निर्विकल्पस्वभावस्य न विशेषोऽस्ति योगिनः॥**	जो योगी स्वभाव से ही विकल्प रहित है, उसके लिए अपने राज्य में या भिक्षा में, लाभ-हानि में, भीड़ में या सुने जंगल में कोई अंतर नहीं है॥
॥१२॥	**क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकिता। इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तस्य योगिनः॥**	यह कर लिया और यह कार्य शेष है, इन द्वंद्वों से जो मुक्त है, उसके लिए धर्म कहाँ, कर्म कहाँ, अर्थ कहाँ और विवेक कहाँ॥
॥१३॥	**कृत्यं किमपि नैवास्ति न कापि हृदि रंजना। यथा जीवनमेवेह जीवन्मुक्तस्य योगिनः॥**	जीवन्मुक्त योगी का न तो कुछ कर्तव्य है और न ही उसके ह्रदय में कोई अनुराग है। जैसे भी जीवन बीत जाये वैसे ही उसकी स्थिति है॥
॥१४॥	**क्व मोहः क्व च वा विश्वं क्व तद् ध्यानं क्व मुक्तता। सर्वसंकल्पसीमायां विश्रान्तस्य महात्मनः॥**	जो महात्मा सभी संकल्पों की सीमा पर विश्राम कर रहा है, उसके लिए मोह कहाँ, संसार कहाँ, ध्यान कहाँ और मुक्ति भी कहाँ ?

॥१५॥	येन विश्वमिदं दृष्टं स नास्तीति करोतु वै। निर्वासनः किं कुरुते पश्यन्नपि न पश्यति॥	जिसने इस संसार को वास्तव में देखा हो वह कहे कि यह नहीं है, नहीं है। जो कामना रहित है, वह तो इसको देखते हुए भी नहीं देखता॥
॥१६॥	येन दृष्टं परं ब्रह्म सोऽहं ब्रह्मेति चिन्तयेत्। किं चिन्तयति निश्चिन्तो यो न पश्यति॥	जिसने अपने से भिन्न परब्रह्म को देखा हो, वह चिंतन किया करे कि वह ब्रह्म मैं हूँ पर जिसे कुछ दूसरा दिखाई नहीं देता, वह निश्चिन्त क्या विचार करे॥
॥१७॥	दृष्टो येनात्मविक्षेपो निरोधं कुरुते त्वसौ। उदारस्तु न विक्षिप्तः साध्याभावात्करोति किम्॥	जिसने अपने स्वरुप में कभी कोई विक्षेप देखा हो वह उसको रोके। तत्त्व को जानने वाले का विक्षेप कभी होता ही नहीं है, किसी साध्य के बिना वह क्या करे॥
॥१८॥	धीरो लोकविपर्यस्तो वर्तमानोऽपि लोकवत्। नो समाधिं न विक्षेपं न लोपं स्वस्य पश्यति॥	तत्त्वज्ञ तो सांसारिक लोगों से उल्टा ही होता है, वह सामान्य लोगों जैसा व्यवहार करता हुआ भी अपने स्वरुप में न समाधि देखता है, न विक्षेप और न लय ही॥
॥१९॥	भावाभावविहीनो यस्- तृप्तो निर्वासनो बुधः। नैव किंचित्कृतं तेन लोकदृष्ट्या विकुर्वता॥	तत्त्वज्ञ भाव और अभाव से रहित, तृप्त और कामना रहित होता है। लौकिक दृष्टि से कुछ उल्टा-सीधा करते हुए भी वह कुछ भी नहीं करता॥

॥२०॥	**प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा नैव धीरस्य दुर्ग्रहः। यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वा तिष्ठते सुखम्॥**	तत्त्वज्ञ का प्रवृत्ति या निवृत्ति का दुराग्रह नहीं होता। जब जो सामने आ जाता है तब वह आनंद से रहता है॥
॥२१॥	**निर्वासनो निरालंबः स्वच्छन्दो मुक्तबन्धनः। क्षिप्तः संस्कारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत्॥**	ज्ञानी कामना, आश्रय और परतंत्रता आदि के बंधनों से सर्वथा मुक्त होता है। प्रारब्ध रूपी वायु के वेग से उसका शरीर उसी प्रकार गतिशील रहता है जैसे वायु के वेग से सूखा पत्ता॥
॥२२॥	**असंसारस्य तु क्वापि न हर्षो न विषादिता। स शीतलहमना नित्यं विदेह इव राजये॥**	जो संसार से मुक्त है वह न कभी हर्ष करता है और न विषाद। उसका मन सदा शीतल रहता है और वह (शरीर रहते हुए भी) विदेह के समान सुशोभित होता है॥
॥२३॥	**कुत्रापि न जिहासास्ति नाशो वापि न कुत्रचित्। आत्मारामस्य धीरस्य शीतलाच्छतरात्मनः॥**	जिसका अंतर्मन शीतल और स्वच्छ है, जो आत्मा में ही रमण करता है, उस धीर पुरुष की न तो किसी त्याग की इच्छा होती है और न कुछ पाने की आशा॥
॥२४॥	**प्रकृत्या शून्यचित्तस्य कुर्वतोऽस्य यदृच्छया। प्राकृतस्येव धीरस्य न मानो नावमानता॥**	जिस धीर पुरुष का चित्त स्वभाव से ही निर्विषय है, वह साधारण मनुष्य के समान प्रारब्ध वश बहुत से कार्य करता है पर उसका उसे न तो मान होता है और न अपमान ही॥

॥२५॥	**कृतं देहेन कर्मेदं न मया शुद्धरूपिणा।** **इति चिन्तानुरोधी यः कुर्वन्नपि करोति न॥**	'यह कर्म शरीर ने किया है, मैंने नहीं, मैं तो शुद्ध स्वरुप हूँ' - इस प्रकार जिसने निश्चय कर लिया है, वह कर्म करता हुआ भी नहीं करता॥
॥२६॥	**अतद्वादीव कुरुते न भवेदपि बालिशः।** **जीवन्मुक्तः सुखी श्रीमान् संसरन्नपि शोभते॥**	सुखी और श्रीमान् जीवन्मुक्त विषयी के समान कार्य करता है, परन्तु विषयी नहीं होता है वह तो सांसारिक कार्य करता हुआ भी शोभा को प्राप्त होता है॥
॥२७॥	**नाविचारसुश्रान्तो धीरो विश्रान्तिमागतः।** **न कल्पते न जाति न शृणोति न पश्यति॥**	जो धीर पुरुष अनेक विचारों से थककर अपने स्वरूप में विश्राम पा चुका है, वह न कल्पना करता है, न जानता है, न सुनता है और न देखता ही है॥
॥२८॥	**असमाधेरविक्षेपान् न मुमुक्षुर्न चेतरः।** **निश्चित्य कल्पितं पश्यन् ब्रह्मैवास्ते** **महाशयः॥**	ऐसा ज्ञानी समाधि में आग्रह न होने के कारण मुमुक्षु नहीं और विक्षेप न होने के कारण विषयी नहीं है। मेरे अतिरिक्त जो कुछ भी दिख रहा है वह सब कल्पित ही है - ऐसा निश्चय करके सबको देखता हुआ वह ब्रह्म ही है॥
॥२९॥	**यस्यान्तः स्यादहंकारो न करोति करोति सः।** **निरहंकारधीरेण न किंचिदकृतं कृतम्॥**	जिसके अन्तः करण में अहंकार विद्यमान है वह देखने में कर्म न करे तो भी करता है। पर जो धीर पुरुष निरहंकार है, वह सब कुछ करते हुए भी कर्म नहीं करता॥

॥३०॥	नोद्विग्नं न च सन्तुष्ट- मकर्तृ स्पन्दवर्जितं। निराशं गतसन्देहं चित्तं मुक्तस्य राजते॥	मुक्त पुरुष के चित्त में न उद्वेग है, न संतोष और न कर्तृत्व का अभिमान ही है उसके चित्त में न आशा है, न संदेह ऐसा चित्त ही सुशोभित होता है॥
॥३१॥	निर्ध्यातुं चेष्टितुं वापि यच्चित्तं न प्रवर्तते। निर्निमित्तमिदं किंतु निर्ध्यायेति विचेष्टते॥	जीवन्मुक्त का चित्त ध्यान से विरत होने के लिए और व्यवहार करने की चेष्टा नहीं करता है। निमित्त के शून्य होने पर वह ध्यान से विरत हो व्यवहार भी करता है॥
॥३२॥	तत्त्वं यथार्थमाकर्ण्य मन्दः प्राप्नोति मूढतां। अथवा याति संकोचम- मूढः कोऽपि मूढवत्॥	अविवेकी पुरुष यथार्थ तत्त्व का वर्णन सुनकर और अधिक मोह को प्राप्त होता है या संकुचित हो जाता है। कभी-कभी तो कुछ बुद्धिमान भी उसी अविवेकी के समान व्यवहार करने लगते हैं॥
॥३३॥	एकाग्रता निरोधो वा मूढैरभ्यस्यते भृशं। धीराः कृत्यं न पश्यन्ति सुप्तवत्स्वपदे स्थिताः॥	मूढ़ पुरुष बार-बार एकाग्रता और निरोध का अभ्यास करते हैं। धीर पुरुष सुषुप्त के समान अपने स्वरूप में स्थित रहते हुए कुछ भी कर्तव्य रूप से नहीं करते॥
॥३४॥	अप्रयत्नात् प्रयत्नाद् वा मूढो नाप्नोति निर्वृतिं। तत्त्वनिश्चयमात्रेण प्राज्ञो भवति निर्वृतः॥	मूढ़ पुरुष प्रयत्न से या प्रयत्न के त्याग से शांति प्राप्त नहीं करता पर प्रज्ञावान पुरुष तत्त्व के निश्चय मात्र से शांति प्राप्त कर लेता है॥

॥३५॥	शुद्धं बुद्धं प्रियं पूर्णं निष्प्रपंचं निरामयं। आत्मानं तं न जानन्ति तत्राभ्यासपरा जनाः॥	आत्मा के सम्बन्ध में जो लोग अभ्यास में लग रहे हैं, वे अपने शुद्ध, बुद्ध, प्रिय, पूर्ण, निष्प्रपंच और निरामय ब्रह्म-स्वरूप को नहीं जानते॥
॥३६॥	नाप्नोति कर्मणा मोक्षं विमूढोऽभ्यासरूपिणा। धन्यो विज्ञानमात्रेण मुक्तस्तिष्ठत्यविक्रियः॥	अज्ञानी मनुष्य कर्म रूपी अभ्यास से मुक्ति नहीं पा सकता और ज्ञानी कर्म रहित होने पर भी केवल ज्ञान से मुक्ति प्राप्त कर लेता है ॥
॥३७॥	मूढो नाप्नोति तद् ब्रह्म यतो भवितुमिच्छति। अनिच्छन्नपि धीरो हि परब्रह्मस्वरूपभाक्॥	अज्ञानी को ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता क्योंकि वह ब्रह्म होना चाहता है। ज्ञानी पुरुष इच्छा न करने पर भी परब्रह्म बोध स्वरूप में रहता है॥
॥३८॥	निराधारा ग्रहव्यग्रा मूढाः संसारपोषकाः। एतस्यानर्थमूलस्य मूलच्छेदः कृतो बुधैः॥	अज्ञानी निराधार आग्रहों में पड़कर संसार का पोषण करते रहते हैं। ज्ञानियों ने सभी अनर्थों की जड़ इस संसार की सत्ता का ही पूर्ण नाश कर दिया है॥
॥३९॥	न शान्तिं लभते मूढो यतः शमितुमिच्छति। धीरस्तत्त्वं विनिश्चित्य सर्वदा शान्तमानसः॥	अज्ञानी शांति नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि वह शांत होने की इच्छा से ग्रस्त है। ज्ञानी पुरुष तत्त्व का दृढ़ निश्चय करके सदैव शांत चित्त ही रहता है॥

॥४०॥	**क्वात्मनो दर्शनं तस्य यद् दृष्टमवलंबते।** **धीरास्तं तं न पश्यन्ति पश्यन्त्यात्मान मव्ययम्॥**	अज्ञानी को आत्म-साक्षात्कार कैसे हो सकता है जब वह दृश्य पदार्थों के आश्रय को स्वीकार करता है। ज्ञानी पुरुष तो वे हैं जो दृश्य पदार्थों को न देखते हुए अपने अविनाशी स्वरूप को ही देखते हैं॥
॥४१॥	**क्व निरोधो विमूढस्य यो निर्बन्धं करोति वै।** **स्वारामस्यैव धीरस्य सर्वदासावकृत्रिमः॥**	जो आग्रह करता है, उस मूर्ख का चित्त निरुद्ध कहाँ है? आत्मा में रमण करने वाले धीर पुरुष का चित्त तो सदैव स्वाभाविक रूप से निरुद्ध ही रहता है॥
॥४२॥	**भावस्य भावकः कश्चिन् न किंचिद् भावकोपरः।** **उभयाभावकः कश्चिद् एवमेव निराकुलः॥**	कोई पदार्थ की सत्ता की भावना करता है और कोई पदार्थों की असत्ता की। ज्ञानी तो भाव-अभाव दोनों की भावना को छोड़कर निश्चिन्त रहता है॥
॥४३॥	**शुद्धमद्वयमात्मानं भावयन्ति कुबुद्धयः।** **न तु जानन्ति संमोहा- द्यावज्जीवमनिर्वृताः॥**	बुद्धिहीन पुरुष अज्ञानवश अपने शुद्ध, अद्वितीय स्वरूप का ज्ञान तो प्राप्त करते नहीं पर केवल भावना करते हैं, उन्हें जीवन पर्यन्त शांति नहीं मिलती॥
॥४४॥	**मुमुक्षोर्बुद्धिरालंब- मन्तरेण न विद्यते।** **निरालंबैव निष्कामा बुद्धिर्मुक्तस्य सर्वदा॥**	मुमुक्षु पुरुष की बुद्धि कुछ आश्रय ग्रहण किये बिना नहीं रहती। मुक्त पुरुष की बुद्धि तो सब प्रकार से निष्काम और निराश्रय ही रहती है॥

॥४५॥	**विषयद्वीपिनो वीक्ष्य चकिताः शरणार्थिनः।** **विशन्ति झटिति क्रोडं निरोधैकाग्रसिद्धये॥**	अज्ञानी पुरुष विषयरूपी मतवाले हाथियों को देखकर भयभीत हो जाते हैं और शरण के लिए तुरंत निरोध और एकाग्रता की सिद्धि के लिए चित्त की गुफा में घुस जाते है
॥४६॥	**निर्वासनं हरिं दृष्ट्वा तूष्णीं विषयदन्तिनः।** **पलायन्ते न शक्तास्ते सेवन्ते कृतचाटवः॥**	कामना रहित ज्ञानी सिंह है, उसे देखते ही विषय रूपी मतवाले हाथी चुपचाप भाग जाते हैं उनकी एक नहीं चलती उलटे वे खुशामद करके सेवा करते हैं॥
॥४७॥	**न मुक्तिकारिकां धत्ते निःशङ्को युक्तमानसः।** **पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम्॥**	शंका रहित ज्ञानी पुरुष मुक्ति के साधनों का अभ्यास नहीं करता, वह तो देखते, सुनते, छूते, सूंघते, भोगते हुए भी आनंद में मग्न रहता है॥
॥४८॥	**वस्तुश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिर्निराकुलः।** **नैवाचारमनाचार- मौदास्यं वा प्रपश्यति॥**	शुद्ध-बुद्धि पुरुष वस्तु-तत्त्व के केवल सुनने मात्र से आकुलता रहित हो जाता है, फिर आचार-अनाचार या उदासीनता पर उसकी दृष्टि नहीं जाती॥
॥४९॥	**यदा यत्कर्तुमायाति तदा तत्कुरुते ऋजुः।** **शुभं वाप्यशुभं वापि तस्य चेष्टा हि बालवत्॥**	स्वभाव में स्थित ज्ञानी, शुभ हो या अशुभ, जो जब करने के लिए सामने आ जाता है, तब वह उसे बालक की चेष्टा के समान सरलता से कर डालता है॥

॥५०॥	**स्वातंत्र्यात्सुखमाप्नोति स्वातंत्र्याल्लभते परं। स्वातंत्र्यान्निर्वृतिं गच्छेत्- स्वातंत्र्यात् परमं पदम्॥**	स्वतंत्रता से ही सुख की और परम तत्त्व की उपलब्धि होती है। स्वतंत्रता से ही परम शांति की प्राप्ति होती है। स्वतंत्रता से ही परम पद मिलता है॥
॥५१॥	**अकर्तृत्वमभोक्तृत्वं स्वात्मनो मन्यते यदा। तदा क्षीणा भवन्त्येव समस्ताश्चित्तवृत्तयः॥**	जब साधक अपने आपको अकर्ता - अभोक्ता निश्चय कर लेता है तब उसके चित्त की सभी वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं॥
॥५२॥	**उच्छृंखलाप्यकृतिका स्थितिर्धीरस्य राजते। न तु सस्पृहचित्तस्य शान्तिर्मूढस्य कृत्रिमा॥**	धीर पुरुष की स्वाभाविक स्थिति विक्षोभ युक्त होने पर भी श्रेष्ठ है पर जिसके चित्त में अनेक इच्छाएं भरी हैं उस अज्ञानी पुरुष पर बनावटी शांति शोभा नहीं पाती॥
॥५३॥	**विलसन्ति महाभोगै- र्विशन्ति गिरिगह्वरान्। निरस्तकल्पना धीरा अबद्धा मुक्तबुद्धयः॥**	धीर पुरुष बड़े भोगों में आनंद करते हैं और पर्वतों की गहन गुफाओं में भी निवास करते हैं पर वे कल्पना, बंधन और बुद्धि की वृत्तियों से मुक्त होते हैं॥
॥५४॥	**श्रोत्रियं देवतां तीर्थम- ङ्गनां भूपतिं प्रियं। दृष्ट्वा संपूज्य धीरस्य न कापि हृदि वासना॥**	धीर पुरुष शास्त्रज्ञ ब्राह्मण, देवता, तीर्थ, स्त्री, राजा और प्रिय को देख कर उनका स्वागत करता है पर उसके हृदय में कोई कामना नहीं होती॥

॥५५॥	भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैश्च दौहित्रैश्चापि गोत्रजैः। विहस्य धिक्कृतो योगी न याति विकृतिं मनाक्॥	सेवक, पुत्र, स्त्री, नाती और सगोत्र द्वारा हंसी उदय जाने पर, धिक्कारने पर भी योगी के चित्त में थोड़ा सा विकार भी उत्पन्न नहीं होता॥
॥५६॥	सन्तुष्टोऽपि न सन्तुष्टः खिन्नोऽपि न च खिद्यते। तस्याश्चर्यदशां तां तादृशा एव जानते॥	लौकिक दृष्टि से प्रसन्न दिखने पर वह प्रसन्न नहीं होता और दुखी दिखने पर दुखी नहीं होता। उसकी उस आश्चर्यमय दशा को उसके समान लोग जान सकते हैं॥
॥५७॥	कर्तव्यतैव संसारो न तां पश्यन्ति सूरयः। शून्याकारा निराकारा निर्विकारा निरामयाः॥	कर्तव्य बुद्धि का नाम ही संसार है, विद्वान लोग उस कर्तव्यता को नहीं देखते क्योंकि उनकी बुद्धि शून्याकार, निराकार, निर्विकार और निरामय होती है॥
॥५८॥	अकुर्वन्नपि संक्षोभाद् व्यग्रः सर्वत्र मूढधीः। कुर्वन्नपि तु कृत्यानि कुशलो हि निराकुलः॥	अज्ञानी पुरुष कुछ न करते हुए भी क्षोभवश सदा व्यग्र ही रहता है। योगी पुरुष बहुत से कार्य करता हुआ भी शांत रहता है॥
॥५९॥	सुखमास्ते सुखं शेते सुखमायाति याति च। सुखं वक्ति सुखं भुंक्ते व्यवहारेऽपि शान्तधीः॥	शांत बुद्धि वाला पुरुष सुख से बैठता है, सुख से सोता है, सुख से आता-जाता है, सुख से बोलता है और सुख से ही खाता है॥

॥६०॥	स्वभावाद्यस्य नैवार्ति- र्लोकवद् व्यवहारिणः। महाहृद इवाक्षोभ्यो गतक्लेशः स शोभते॥	जो बड़े सरोवर के समान शांत है और लौकिक आचरण करते हुए जिसको अन्य लोगों के समान दुःख नहीं होता, वह दुःख रहित ज्ञानी शोभित होता है॥
॥६१॥	निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्ति रुपजायते। प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी॥	मूढ़ में निवृत्ति से भी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है और धीर पुरुष की प्रवृत्ति भी निर्वृत्ति के समान फलदायिनी है॥
॥६२॥	परिग्रहेषु वैराग्यं प्रायो मूढस्य दृश्यते। देहे विगलिताशस्य क्व रागः क्व विरागता॥	अज्ञानी पुरुष प्रायः गृह आदि पदार्थों से वैराग्य करता दिखाई देता है पर जिसका देह-अभिमान नष्ट हो चुका है, उसके लिए कहाँ राग और कहाँ विराग॥
॥६३॥	भावनाभावनासक्ता दृष्टिर्मूढस्य सर्वदा। भाव्यभावनया सा तु स्वस्थस्यादृष्टिरूपिणी॥	अज्ञानी की दृष्टि सदा भाव या अभाव में लगी रहती है, पर धीर पुरुष तो दृश्य को देखते रहने पर भी आत्म स्वरूप को देखने के कारण कुछ नहीं देखती॥
॥६४॥	सर्वारंभेषु निष्कामो यश्चरेद् बालवन् मुनिः। न लेपस्तस्य शुद्धस्य क्रियमाणोऽपि कर्मणि॥	जो धीर पुरुष सभी कार्यों में एक बालक के समान निष्काम भाव से व्यवहार करता है, वह शुद्ध है और कर्म करने पर भी उससे लिप्त नहीं होता॥

॥६५॥	**स एव धन्य आत्मज्ञः सर्वभावेषु यः समः। पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन्निस्तर्षमानसः॥**	वह आत्मज्ञानी धन्य है जो सभी स्थितियों में समान रहता है। देखते, सुनते, छूते, सूंघते और खाते-पीते भी उसका मन कामना रहित होता है॥
॥६६॥	**क्व संसारः क्व चाभासः क्व साध्यं क्व च साधनं। आकाशस्येव धीरस्य निर्विकल्पस्य सर्वदा॥**	धीर पुरुष सदा आकाश के समान निर्विकल्प रहता है। उसकी दृष्टि में संसार कहाँ और उसकी प्रतीति कहाँ? उसके लिए साध्य क्या और साधन क्या ?
॥६७॥	**स जयत्यर्थसंन्यासी पूर्णस्वरसविग्रहः। अकृत्रिमोऽनवच्छिन्ने समाधिर्यस्य वर्तते॥**	जिस सन्यासी को अपने अखंड स्वरुप में सदा स्वाभाविक रूप से समाधि रहती है, जो पूर्ण स्वानंद स्वरूप है, वही विजयी है॥
॥६८॥	**बहुनात्र किमुक्तेन ज्ञाततत्त्वो महाशयः। भोगमोक्षनिराकांक्षी सदा सर्वत्र नीरसः॥**	बहुत कहने से क्या लाभ? महात्मा पुरुष भोग और मोक्ष दोनों की इच्छा नहीं करता और सदा-सर्वत्र रागरहित होता है॥
॥६९॥	**महदादि जगद्द्वैतं नाममात्रविजृंभितं। विहाय शुद्धबोधस्य किं कृत्यमवशिष्यते॥**	महतत्त्व से लेकर सम्पूर्ण द्वैतरूप दृश्य जगत नाममात्र का ही विस्तार है। शुद्ध बोध स्वरुप धीर ने जब उसका भी परित्याग कर दिया फिर भला उसका क्या कर्तव्य शेष है॥

॥७०॥	भ्रमभृतमिदं सर्वं किंचिन्नास्तीति निश्चयी। अलक्ष्यस्फुरणः शुद्धः स्वभावेनैव शाम्यति॥	यह सम्पूर्ण दृश्य जगत भ्रम मात्र है, यह कुछ नहीं है - ऐसे निश्चय से युक्त पुरुष दृश्य की स्फूर्ति से भी रहित हो जाता है और स्वभाव से ही शांत हो जाता है॥
॥७१॥	शुद्धस्फुरणरूपस्य दृश्यभावमपश्यतः। क्व विधिः क्व वैराग्यं क्व त्यागः क्व शमोऽपि वा॥	जो शुद्ध स्फुरण रूप है, जिसे दृश्य सत्तावान नहीं मालूम पड़ता, उसके लिए विधि क्या, वैराग्य क्या, त्याग क्या और शांति भी क्या॥
॥७२॥	स्फुरतोऽनन्तरूपेण प्रकृतिं च न पश्यतः। क्व बन्धः क्व च वा मोक्षः क्व हर्षः क्व विषादिता॥	जो अनंत रूप से स्वयं स्फुरित हो रहा है और प्रकृति की पृथक् सत्ता को नहीं देखता है, उसके लिए बंधन कहाँ, मोक्ष कहाँ, हर्ष कहाँ और विषाद कहाँ॥
॥७३॥	बुद्धिपर्यन्तसंसारे मायामात्रं विवर्तते। निर्ममो निरहंकारो निष्कामः शोभते बुधः॥	बुद्धि के अंत तक ही संसार है और यह केवल माया का विवर्त है, इस तत्त्व को जानने वाला बुद्धिमान ममता, अहंकार और कामना से रहित होकर शोभित होता है॥
॥७४॥	अक्षयं गतसन्ताप- मात्मानं पश्यतो मुनेः। क्व विद्या च क्व वा विश्वं क्व देहोऽहं ममेति वा॥	जो मुनि संताप से रहित अपने अविनाशी स्वरुप को जानता है, उसके लिए विद्या कहाँ और विश्व कहाँ अथवा देह कहाँ और मैं-मेरा कहाँ॥

॥७५॥	निरोधादीनि कर्माणि जहाति जडधीर्यदि। मनोरथान् प्रलापांश्च कर्तुमाप्नोत्यतत्क्षणात्॥	जड़ बुद्धि वाला यदि निरोध आदि कर्मों को छोड़ देता है तो अगले क्षण बड़े-बड़े मनोरथ बनाने और प्रलाप करने लगता है॥
॥७६॥	मन्दः श्रुत्वापि तद्वस्तु न जहाति विमूढतां। निर्विकल्पो बहिर्यत्नाद- न्तर्विषयलालसः॥	अज्ञानी तत्त्व का श्रवण करके भी अपनी मूढ़ता का त्याग नहीं करता, वह बाह्य रूप से तो निसंकल्प हो जाता है पर उसके अंतर्मन में विषयों की इच्छा बनी रहती है॥
॥७७॥	ज्ञानाद् गलितकर्मा यो लोकदृष्ट्यापि कर्मकृत्। नाप्नोत्यवसरं कर्मं वक्तुमेव न किंचन॥	ज्ञान से जिसका कर्म-बंधन नष्ट हो गया है, वह लौकिक रूप से कर्म करता रहे तो भी उसके कुछ करने या कहने का अवसर नहीं रहता ॥
॥७८॥	क्व तमः क्व प्रकाशो वा हानं क्व च न किंचन। निर्विकारस्य धीरस्य निरातंकस्य सर्वदा॥	जो धीर सदा निर्विकार और भय रहित है, उसके लिए अन्धकार कहाँ, प्रकाश कहाँ और त्याग कहाँ? उसके लिए किसी का अस्तित्व नहीं रहता॥
॥७९॥	क्व धैर्यं क्व विवेकित्वं क्व निरातंकतापि वा। अनिर्वाच्यस्वभावस्य निःस्वभावस्य योगिनः॥	योगी को धैर्य कहाँ, विवेक कहाँ और निर्भयता भी कहाँ? उसका स्वभाव अनिर्वचनीय है और वह वस्तुतः स्वभाव रहित है॥

॥८०॥	**न स्वर्गो नैव नरको जीवन्मुक्तिर्न चैव हि। बहुनात्र किमुक्तेन योगदृष्ट्या न किंचन॥**	योगी के लिए न स्वर्ग है, न नरक और न जीवन्मुक्ति ही। इस सम्बन्ध में अधिक कहने से क्या लाभ है योग की दृष्टि से कुछ भी नहीं है॥
॥८१॥	**नैव प्रार्थयते लाभं नालाभेनानुशोचति। धीरस्य शीतलं चित्तम- मृतेनैव पूरितम्॥**	धीर का चित्त ऐसे शीतल रहता है जैसे वह अमृत से परिपूर्ण हो। वह न लाभ की आशा करता है और न हानि का शोक॥
॥८२॥	**न शान्तं स्तौति निष्कामो न दुष्टमपि निन्दति। समदुःखसुखस्तृप्तः किंचित् कृत्यं न पश्यति॥**	धीर पुरुष न संत की स्तुति करता है और न दुष्ट की निंदा। वह सुख-दुख में समान, स्वयं में तृप्त रहता है। वह अपने लिए कोई भी कर्तव्य नहीं देखता॥
॥८३॥	**धीरो न द्वेष्टि संसारमा- त्मानं न दिदृक्षति। हर्षामर्षविनिर्मुक्तो न मृतो न च जीवति॥**	धीर पुरुष न संसार से द्वेष करता है और न आत्म-दर्शन की इच्छा। वह हर्ष और शोक से रहित है। लौकिक दृष्टि से वह न तो मृत है और न जीवित॥
॥८४॥	**निःस्नेहः पुत्रदारादौ निष्कामो विषयेषु च। निश्चिन्तः स्वशरीरेऽपि निराशः शोभते बुधः॥**	जो धीर पुरुष पुत्र-स्त्री आदि के प्रति आसक्ति से रहित होता है, विषय की उपलब्धि में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती, अपने शरीर के लिए भी निश्चिन्त रहता है, सभी आशाओं से रहित होता है, वह सुशोभित होता है॥

॥८५॥	तुष्टिः सर्वत्र धीरस्य यथापतितवर्तिनः। स्वच्छन्दं चरतो देशान् यत्रस्तमितशायिनः॥	जहाँ सूर्यास्त हुआ वहां सो लिया, जहाँ इच्छा हुई वहां रह लिया, जो सामने आया उसी के अनुसार व्यवहार कर लिया। इस प्रकार धीर सर्वत्र संतुष्ट रहता है॥
॥८६॥	पततूदेतु वा देहो नास्य चिन्ता महात्मनः। स्वभावभूमिविश्रान्ति- विस्मृताशेषसंसृतेः॥	जो अपने आत्मस्वरुप में विश्राम करते हुए सभी प्रपंचों का नाश कर चुका है, उस महात्मा को शरीर रहे अथवा नष्ट हो जाये - ऐसी चिंता भी नहीं होती॥
॥८७॥	अकिंचनः कामचारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः। असक्तः सर्वभावेषु केवलो रमते बुधः॥	ज्ञानी पुरुष संग्रह रहित, स्वच्छंद, निर्द्वन्द्व और संशय रहित होता है। वह किसी भाव में आसक्त नहीं होता। वह तो केवल आनंद से विहार करता है ॥
॥८८॥	निर्ममः शोभते धीरः समलोष्टाश्मकांचनः। सुभिन्नहृदयग्रन्थि- र्विनिर्धूतरजस्तमः॥	धीर पुरुष की हृदय ग्रंथि खुल जाती है, रज और तम नष्ट हो जाते हैं। वह मिट्टी के ढ़ेले, पत्थर और सोने को समान दृष्टि से देखता है, ममता रहित वह सुशोभित होता है॥
॥८९॥	सर्वत्रानवधानस्य न किंचिद् वासना हृदि। मुक्तात्मनो वितृप्तस्य तुलना केन जायते॥	जो इस दृश्य प्रपंच पर ध्यान नहीं देता, आत्म तृप्त है, जिसके हृदय में जरा सी भी कामना नहीं होती - ऐसे मुक्तात्मा की तुलना किसके साथ की जा सकती है॥

॥९०॥	**जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति। ब्रुवन् अपि न च ब्रूते कोऽन्यो निर्वासनादृते॥**	कामनारहित धीर के अतिरिक्त ऐसा और कौन है जो जानते हुए भी न जाने, देखते हुए भी न देखे और बोलते हुए भी न बोले॥
॥९१॥	**भिक्षुर्वा भूपतिर्वापि यो निष्कामः स शोभते। भावेषु गलिता यस्य शोभनाशोभना मतिः॥**	राजा हो या रंक, जो कामना रहित है वह ही सुशोभित होता है।जिसकी दृश्य वस्तुओं में शुभ और अशुभ बुद्धि समाप्त हो गयी है वह निष्काम है॥
॥९२॥	**क्व स्वाच्छन्द्यं क्व संकोचः क्व वा तत्त्ववि निश्चयः। निर्व्याजार्जवभूतस्य चरितार्थस्य योगिनः॥**	योगी निष्कपट, सरल और चरित्रवान होता है। उसके लिए स्वच्छंदता क्या, संकोच क्या और तत्त्व विचार भी क्या॥
॥९३॥	**आत्मविश्रान्तितृप्तेन निराशेन गतार्तिना। अन्तर्यदनुभूयेत तत् कथं कस्य कथ्यते॥**	जो अपने स्वरुप में विश्राम करके तृप्त है, आशा रहित है, दुःख रहित है, वह अपने अन्तः करण में जिस आनंद का अनुभव करता है वह कैसे किसी को बता सकता है॥
॥९४॥	**सुप्तोऽपि न सुषुप्तौ च स्वप्नेऽपि शयितो न च। जागरेऽपि न जागर्ति धीरस्तृप्तः पदे पदे॥**	धीर पुरुष पद-पद पर तृप्त रहता है। वह सोकर भी नहीं सोता, वह स्वप्न देखकर भी नहीं देखता और जाग्रत रहने पर भी नहीं जगता॥

॥९५॥	ज्ञः सचिन्तोऽपि निश्चिन्तः सेन्द्रियोऽपि निरिन्द्रियः। सुबुद्धिरपि निर्बुद्धिः साहंकारोऽनहङ्कृतिः॥	धीर पुरुष चिन्तावान होने पर भी चिंतारहित होता है, इन्द्रिय युक्त होने पर भी इन्द्रिय रहित होता है, बुद्धि युक्त होने पर भी बुद्धि रहित होता है और अहंकार सहित होने पर भी अहंकार रहित होता है॥
॥९६॥	न सुखी न च वा दुःखी न विरक्तो न संगवान्। न मुमुक्षुर्न वा मुक्ता न किंचिन्न च किंचन॥	धीर पुरुष न सुखी होता है और न दुखी, न विरक्त होता है और न अनुरक्त। वह न मुमुक्षु है और न मुक्त। वह कुछ नहीं है, कुछ नहीं है॥
॥९७॥	विक्षेपेऽपि न विक्षिप्तः समाधौ न समाधिमान्। जाड्येऽपि न जडो धन्यः पाण्डित्येऽपि न पण्डितः॥	धीर पुरुष विक्षेप में विक्षिप्त नहीं होता, समाधि में समाधिस्थ नहीं होता। उसकी लौकिक जड़ता में वह जड़ नहीं है और पांडित्य में पंडित नहीं है॥
॥९८॥	मुक्तो यथास्थितिस्वस्थः कृतकर्तव्यनिर्वृतः। समः सर्वत्र वैतृष्ण्यान्न स्मरत्यकृतं कृतम्॥	धीर पुरुष सभी स्थितियों में अपने स्वरुप में स्थित रहता है। कर्तव्य रहित होने से शांत होता है। सदा समान रहता है। तृष्णा रहित होने के कारण वह क्या किया और क्या नहीं - इन बातों का स्मरण नहीं करता॥

॥९९॥	**न प्रीयते वन्द्यमानो निन्द्यमानो न कुप्यति।** **नैवोद्विजति मरणे जीवने नाभिनन्दति॥**	वंदना करने से वह प्रसन्न नहीं होता, निंदा करने से क्रोधित नहीं होता। मृत्यु से उद्वेग नहीं करता और जीवन का अभिनन्दन नहीं करता॥
॥१००॥	**न धावति जनाकीर्णं नारण्यं उपशान्तधीः।** **यथातथा यत्रतत्र सम एवावतिष्ठते॥**	शांत बुद्धि वाला धीर न तो जनसमूह की ओर दौड़ता है और न वन की ओर। वह जहाँ जिस स्थिति में होता है, वहां ही समचित्त से आसीन रहता है॥
	अष्टावक्र गीता- उन्नीसवाँ अध्याय	
॥१॥	**जनक उवाच-** **तत्त्वविज्ञानसन्दंश- मादाय हृदयोदरात्।** **नानाविधपरामर्श- शल्योद्धारः कृतो मया॥**	राजा जनक कहते हैं - तत्त्व-विज्ञान की चिमटी द्वारा विभिन्न प्रकार के सुझावों रूपी काँटों को मेरे द्वारा हृदय के आन्तरिक भागों से निकाला गया॥
॥२॥	**क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकिता। क्व द्वैतं क्व च वाऽद्वैतं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥**	अपनी महिमा में स्थित मेरे लिए क्या धर्म है और क्या काम है, क्या अर्थ है और क्या विवेक है, क्या द्वैत है और क्या अद्वैत है ?
॥३॥	**क्व भूतं क्व भविष्यद् वा वर्तमानमपि क्व वा।** **क्व देशः क्व च वा नित्यं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥**	अपनी महिमा में स्थित मेरे लिए क्या अतीत है और क्या भविष्य है और क्या वर्तमान ही है, क्या देश है और क्या काल है ?

॥४॥	क्व चात्मा क्व च वानात्मा क्व शुभं क्वाशुभं तथा। क्व चिन्ता क्व च वाचिन्ता स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥	अपनी महिमा में स्थित मेरे लिए क्या आत्मा है और क्या अनात्मा है तथा क्या शुभ और क्या अशुभ है, क्या विचारयुक्त होना है और क्या निर्विचार होना है ?
॥५॥	क्व स्वप्नः क्व सुषुप्तिर्वा क्व च जागरणं तथा। क्व तुरियं भयं वापि स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥	अपनी महिमा में स्थित मेरे लिए क्या स्वप्न है और क्या सुषुप्ति तथा क्या जागरण है और क्या तुरीय अवस्था है अथवा क्या भय ही है ?
॥६॥	क्व दूरं क्व समीपं वा बाह्यं क्वाभ्यन्तरं क्व वा। क्व स्थूलं क्व च वा सूक्ष्मं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥	अपनी महिमा में स्थित मेरे लिए क्या दूर है और क्या पास है तथा क्या बाह्य है और क्या आतंरिक है, क्या स्थूल है और क्या सूक्ष्म है ?
॥७॥	क्व मृत्युर्जीवितं वा क्व लोकाः क्वास्य क्व लौकिकं। क्व लयः क्व समाधिर्वा स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥	अपनी महिमा में स्थित मेरे लिए क्या मृत्यु है और क्या जीवन है तथा क्या लौकिक है और क्या पारलौकिक है, क्या लय है और क्या समाधि है ?
॥८॥	अलं त्रिवर्गकथया योगस्य कथयाप्यलं। अलं विज्ञानकथया विश्रान्तस्य ममात्मनि॥	अपनी आत्मा में नित्य स्थित मेरे लिए जीवन के तीन उद्देश्य निरर्थक हैं, योग पर चर्चा अनावश्यक है और विज्ञानं का वर्णन अनावश्यक है॥

अष्टावक्र गीता- बीसवां अध्याय		
॥१॥	जनक उवाच – क्व भूतानि क्व देहो वा क्वेन्द्रियाणि क्व वा मनः। क्व शून्यं क्व च नैराश्यं मत्स्वरूपे निरंजने॥	राजा जनक कहते हैं - मेरे निष्कलंक स्वरुप में पाँच महाभूत कहाँ हैं या शरीर कहाँ है और इन्द्रियाँ या मन कहाँ हैं, शून्य कहाँ है और निराशा कहाँ है॥
॥२॥	क्व शास्त्रं क्वात्मविज्ञानं क्व वा निर्विषयं मनः। क्व तृप्तिः क्व वितृष्णत्वं गतद्वन्द्वस्य मे सदा॥	सदा सभी प्रकार के द्वंद्वों से रहित मेरे लिए क्या शास्त्र हैं और क्या आत्म-ज्ञान अथवा क्या विषय रहित मन ही है, क्या प्रसन्नता है या क्या संतोष है॥
॥३॥	क्व विद्या क्व च वाविद्या क्वाहं क्वेदं मम क्व वा। क्व बन्ध क्व च वा मोक्षः स्वरूपस्य क्व रूपिता॥	क्या विद्या है या क्या अविद्या, क्या मैं है या क्या वह है और क्या मेरा है, क्या बंधन है और क्या मोक्ष है या स्वरुप का क्या लक्षण है॥
॥४॥	क्व प्रारब्धानि कर्माणि जीवन्मुक्तिरपि क्व वा। क्व तद् विदेहकैवल्यं निर्विशेषस्य सर्वदा॥	क्या प्रारब्ध कर्म हैं और क्या जीवन मुक्ति है, सर्वदा परिवर्तन से रहित मुझमें क्या शरीरहीन कैवल्य है॥
॥५॥	क्व कर्ता क्व च वा भोक्ता निष्क्रियं स्फुरणं क्व वा। क्वापरोक्षं फलं वा क्व निःस्वभावस्य मे सदा॥	सदा स्वभाव से रहित मुझमें कौन कर्ता है और कौन भोक्ता, क्या निष्क्रियता है और क्या क्रियाशीलता, क्या प्रत्यक्ष है और क्या अप्रत्यक्ष॥

॥६॥	क्व लोकं क्व मुमुक्षुर्वा क्व योगी ज्ञानवान् क्व वा। क्व बद्धः क्व च वा मुक्तः स्वस्वरूपेऽह मद्वये॥	अपने अद्वय (दूसरे से रहित) स्वरुप में स्थित मेरे लिए क्या संसार है और क्या मुक्ति की इच्छा, कौन योगी है और कौन ज्ञानी, कौन बंधन में है और कौन मुक्त॥
॥७॥	क्व सृष्टिः क्व च संहारः क्व साध्यं क्व च साधनं। क्व साधकः क्व सिद्धिर्वा स्वस्वरूपेऽहमद्वये॥	अपने अद्वय (दूसरे से रहित) स्वरुप में स्थित मेरे लिए क्या सृष्टि है और क्या प्रलय, क्या साध्य है और क्या साधन, कौन साधक है और क्या सिद्धि है॥
॥८॥	क्व प्रमाता प्रमाणं वा क्व प्रमेयं क्व च प्रमा।क्व किंचित् क्व न किंचिद् वा सर्वदा विमलस्य मे	विशुद्ध मुझमें कौन ज्ञाता है और क्या प्रमाण (साक्ष्य) है, क्या ज्ञेय है और क्या ज्ञान, क्या स्वल्प है और क्या सर्व॥
॥९॥	क्व विक्षेपः क्व चैकाग्र्यं क्व निर्बोधः क्व मूढता। क्व हर्षः क्व विषादो वा सर्वदा निष्क्रियस्य मे॥	सदा निष्क्रिय मुझमें क्या अन्यमनस्कता है और क्या एकाग्रता, क्या विवेक है और क्या विवेकहीनता, क्या हर्ष है और क्या विषाद॥
॥१०॥	क्व चैष व्यवहारो वा क्व च सा परमार्थता। क्व सुखं क्व च वा दुखं निर्विमर्शस्य मे सदा॥	सदा विचार रहित मेरे लिए क्या संसार है और क्या परमार्थ, क्या सुख है और क्या दुःख॥
॥११॥	क्व माया क्व च संसारः क्व प्रीतिर्विरतिः क्व वा। क्व जीवः क्व च तद्ब्रह्म सर्वदा विमलस्य मे॥	सदा विशुद्ध मेरे लिया क्या माया है और क्या संसार, क्या प्रीति है और क्या विरति, क्या जीव है और क्या वह ब्रह्म॥

॥१२॥	क्व प्रवृत्तिर्निर्वृत्तिर्वा क्व मुक्तिः क्व च बन्धनं। कूटस्थनिर्विभागस्य स्वस्थस्य मम सर्वदा॥	अचल, विभागरहित और सदा स्वयं में स्थित मेरे लिए क्या प्रवृत्ति है और क्या निवृत्ति, क्या मुक्ति है और क्या बंधन॥
॥१३॥	क्वोपदेशः क्व वा शास्त्रं क्व शिष्यः क्व च वा गुरुः। क्व चास्ति पुरुषार्थो वा निरुपाधेः शिवस्य मे॥	विशेषण रहित, कल्याण रूप, मेरे लिए क्या उपदेश है और क्या शास्त्र, कौन शिष्य है और कौन गुरु, और क्या प्राप्त करने योग्य ही है॥
॥१४॥	क्व चास्ति क्व च वा नास्ति क्वास्ति चैकं क्व च द्वयं। बहुनात्र किमुक्तेन किंचिन्नोत्तिष्ठते मम॥	क्या है और क्या नहीं, क्या अद्वैत है और क्या द्वैत, अब बहुत क्या कहा जाये, मुझमें कुछ भी(भाव) नहीं उठता है॥

अष्टावक्र गीता- बीस अध्याय				
1. साक्षी	2. आश्चर्यम्	3. आत्माद्वैत	4. सर्वमात्म	5. लय
6. प्रकृतेः परः	7. शान्त	8. मोक्ष	9. निर्वाण	10. वैराग्य
11. चिद्रूप	12. स्वभाव	13. यथासुखम्	14. ईश्वर	15. तत्त्वम्
16. स्वास्थ्य	17. कैवल्य	18. जीवन्मुक्ति	19. स्वमहिमा	20. अकिंचनभाव

॥ इति श्रीः अष्टावक्र गीता ॥